श्रीकृष्णामृत रसायन

कभी न यह तप हीन को कहना
तथा अभक्त जो हो कोई।
जिज्ञासू जो न हो तथा वह
मुझ में दोष लखे जोई॥
सर्व गुह्य से भी अतिशय यह,
ज्ञान कहा तुझ से ऐसा।
कर विचार संपूर्ण हृदय में,
जैसी इच्छा कर वैसा॥"

(भगवद्गीता)

प्रकाशक—
श्रीराम

लेखक--
सीताराम

हरिः ॐ तत्सत् ब्रह्मणे नमः ॐ नमो निरञ्जनाय ॥

श्रीकृष्णामृत रसायन

(श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी भाषानुवाद तथा अनुगीता के प्रस्तावित श्लोकोंका भावार्थ)

"पार्थ, आसरा मेरा लेकर पापयोनि से आवें वो।
वैश्य, शूद्र हों, अथवा नारी जो हों, मम गति पावें सो॥"

(श्रीमद्भगवद्गीता)

लेखक—

श्री भक्ति रसविन्दु श्री वेदान्त रसविन्दु आदिक अनेक पुस्तकों का रचयिता, काँधला निवासी श्रीदुर्गाप्रसादात्मज सीताराम गुप्त।

प्रकाशक—

झिंझाने निवासी श्रीमान् भक्त मेदीराम सूरजभानजी के सुपात्र पुत्र भक्त श्रीराम गुप्त (वर्तमान निवासी एबटाबाद हज़ारा) ने सर्व बाल वृद्ध नारी तथा पुरुष भगवद्भक्तों की सेवा के लिये वितरण करनेको छपाया।

संवत् १९८५ विक्रमी

श्रीकृष्णार्पणमस्तु शुभं भवतु ॥

मूल्य श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियों का संयम।

गयादत्त प्रेस, क्लोथ मारकेट देहली में छपा।

॥ अथ श्री परमात्मने नमः ॥

श्रीकृष्णामृत रसायन का विषय सूची क्रम

(१) श्रीकृष्णामृत उपदेश

(२) श्रीमद्भगवद्गीतार्थ का माहात्म्य

(३) श्रीमद्भगवद्गीता का दर्शन

(४) प्रथमोऽध्यायः

(५) द्वितीयोऽध्यायः

(६) तृतीयोऽध्यायः

(७) चतुर्थोऽध्यायः

(८) पंचमोऽध्यायः

(९) षष्ठोऽध्यायः

(१०) सप्तमोऽध्यायः

(११) अष्टमोऽध्यायः

(१२) नवमोऽध्यायः

(१३) दशमोऽध्यायः

(१४) एकादशोऽध्यायः

(१५) द्वादशोऽध्यायः

(१६) त्रयोदशोऽध्यायः

(१७) चतुर्दशोऽध्यायः

(१८) पंचदशोऽध्यायः

(१९) षोडशोऽध्यायः

(२०) सप्तदशोऽध्यायः

(२१) अष्टदशोऽध्यायः

(२२) श्री अनुगीता का उपदेश

(२३) योग माया का संदेश

(२४) प्रार्थना

(२५) प्रार्थना

* हरिः ॐ तत् सत ब्रह्मणे नमः *

❀ श्रीकृष्णामृत उपदेश ❀

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र, गृहस्थ साधु वेषधारी ।
स्वधर्म पालना करो वीरवर, वृद्ध युवा सब नर नारी ॥

कृष्ण रचित इस धर्मसूत्र को, आलसवश जो दोगे तोड़ ।
पराधीन हो दुःख सहोगे, सदा दिव्य सुखसे मुँह मोड़ ॥

धर्मवीर पग धार सँभल कर, परख निरख असुरोंकी चाल ।
सर्व अङ्ग धर्मों के समझो, पूर्वा पर विचार तत्काल ॥

इक इक क्षुद्र भाव में मन को, धर्मध्वजी बन अटकाना ।
धर्म वेष में पाप बढ़ाना, पीछे होगा पछताना ॥

दीर्घ कालसे जो जो जिसका, विधिने निज निज धर्म रचा ।
उसको जो निज धर्म जानता, वह दुःखोंसे रहा बचा ॥

सिरपर चढ़ो न निर्दोषोंके, भूलों को स्वीकार करो ।
प्रायश्चित यथोचित करके, कुलमें धर्म प्रचार करो ॥

असुर विधर्मी विघ्न करें जो, रहें आर्य धर्म प्रतिकूल ।
उनका तुम सहयोग तजो, निज धर्म सँभालो वेद अनुकूल ॥

निकल कूपसे गिरे गढ़ेमें, यह क्या निज पर का उद्धार ।
पहले से ही समझ सोचकर, करो देश का बेड़ा पार ॥

आपसमें मत तोड़ फोड़कर, बैर भाव की डालो फूट ।
सहन करो निज दोष निवारो, पाप तुम्हारे जावें छूट ॥

धर्म तत्व गुह्य अतिशय है, देर लगे परवाह नहीं ।
निष्कण्टक शुभमार्ग ग्रहण बिन, और भली कोई राह नहीं ।

पत्ते टूट गिरे वृक्षोंसे, उनका फिर कुछ पता नहीं ।
तज स्वधर्म परधर्म जालमें, फँसे न उनका पता कहीं ॥
स्वधर्महीन हो धर्म पराये, सीख स्वतन्त्र न बन जाना ।
इससे तो स्वधर्ममें मरना, लाख भला है दुख पाना ॥
इन्द्रियगण निज वशमें हों, निज अन्तःकरण धर्म आधीन ।
हिंसा कपटहीन हो जीवन, किसने ली स्वतन्त्रता छीन ? ॥
हो विद्या संतोष हृदयमें, ईश्वर का भी हो आधार ।
इससे पृथक जो स्वतन्त्रता, ठोकर उस स्वराज्यको मार ।
स्वधर्म पालना यही स्वराज्य है, बल जो इष्ट बढ़ाना हो ।
ब्रह्मचर्ययुत करो एकता, जग में अचल ठिकाना हो ॥
वैदिक आर्यधर्म मेटकर, फिर स्वराज्य का दम भरना ।
किञ्चित ठगी न मन की तजना, क्या आशा उत्तम करना ॥
अन्तर और बाहरी सब कुछ, सुख संपद स्वाधीन लखो ।
संग त्याग हरिशरण धार, श्रीकृष्णामृत रस बूंद चखो ॥

श्रीकृष्णार्पणम् ।

श्रीकृष्ण निरंजन भवभयभंजन मनके मन जानोंकी जान ।
दया युक्त युग चरणों में अब लीजे यह मेरा बलिदान ॥
दर्शन रस युत मन इकाग्र और श्रोत्र नैनों को मूँद ।
प्रेम अश्रु की धार बहा कर देता हूं अमृत रस बूंद ॥

काँधला (मुज़फ्फरनगर) आपका-
व्यास पूजा संवत् १९८५ विक्रमी सीताराम ।

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीतार्थ विचार माहात्म्य ।

मनुष्यमात्र को स्वधर्म पालन में उत्साह की वृद्धि के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के अर्थ के विचार की आवश्यकता है। यह कायर को शूर बनानेवाली, गिरे हुये शोकातुर जनों को धैर्य वीर्य देकर उठानेवाली, अकर्मण्य स्वभाव से कर्महीन जनों को कर्तव्य परायण करने वाली, भक्तों को श्रीभगवान् का साक्षात्कार करानेवाली, और अत्यन्त पापियों के सब पापों को समूल नष्ट करके उनको ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करानेवाली, मालामन्त्र संहिता रूप है। वेद के अर्थों के गुह्य रहस्यों को प्रकाशित करने से, यह त्रिकाण्डरूप वेदों का तत्व है, और संपूर्ण उपनिषदरूपी गो का गोरस है। यद्यपि इस मूल संस्कृत वाले सद्ग्रंथ की हिन्दी टीका भी बहुत होचुकी हैं, परन्तु इस प्रान्त की सरल हिन्दी भाषा में भगवद्गीता का ऐसा अनुवाद मुझे नहीं देखने को प्राप्त हुआ जिसका अर्थ भी मूल से अक्षरशः मिलता हो और श्रीशङ्कराचार्य तथा श्री शङ्करा नन्द आदिक महापुरुषों के भावों से तथा लोकानुभव से अविरुद्ध हो। साथ साथ ही यह भी हो कि विना मूल पुस्तक को हाथ में लिये हुए भी धारावाही प्रवाह से नित्य स्वाध्याय पाठक्रम में आसके, जिससे केवल हिन्दी

भाषा जानने वालों का चित्त इधर उधर मूल की ओर न जाकर, केवल अर्थ में आरूढ होजावे और संस्कृत से अनभिज्ञ जन स्वतन्त्र होकर इस दुग्ध का पान कर सकें। श्री भगवान् ने कहा है कि "हे पार्थ ! मेरा आश्रय लेकर जो पापयोनि (अछूत अन्त्यज वा अनार्य जाति वाले) भी हों तथा वैश्य तथा स्त्रियाँ (यानी पराधीन गृहकार्य और शृंगार भोगादिक में व्यग्र होने से असमर्थ नारियाँ तथा परिचर्यादिक सेवा कर्म परायण रहने से पराधीन नर) शूद्र भी जो जन हैं वे भी परंगति को प्राप्त होते हैं।" यह श्री भगवान का कथन तब कार्य में सफलतापूर्वक लाया जा सकता है जब देश की वर्तमान भाषा में सुविधा से उस गीतार्थ का धारावाही प्रवाह से विचार किया जा सके। इसी अभाव की पूर्ति के लिये यह "श्रीकृष्णामृत रसायन" नामक श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी भाषा में अनुवादमात्र (मूलरहित) लिखने का इस लेखक ने साहस किया, आशा है सफल होगा। जो मूल श्लोकों के अर्थ को समझना चाहें वे इस भाषा को भी अपने सन्मुख रखकर मूल के साथ समझलें। यद्यपि वेदान्त की परिभाषा कठिन होती है तथापि आर्य स्त्री पुरुषों के हृदय में जन्म जन्मान्तर के आर्य संस्कार प्रसुप्त रहने से वे संस्कार अवश्य ही पुनः पुनः अभ्यास के बल से आपही जाग्रत

होकर बोधजनक होजावेंगे। इस श्रीकृष्णामृत रसायन के अन्तमें श्रीभगवान का पुनः किया हुवा जो विस्मृत गीतार्थ वाले अर्जुन के प्रति, अनुगीता नामक उपदेश है उसका अर्थ भी लिखा है, यह इस अनुवादमें और विशेषता है।

श्रीमद्भागवत में जो कलि के रहने के स्थान नियत किये गये हैं वे सम्पूर्ण अधर्म के स्थान हैं, मुख्य२ कलि के स्थानों को इस प्रकार निरूपण किया है, वे यह हैं:—

(१) जूआ—जितने दांव लगाने वाले छलके खेल हैं वे द्युत यानी जूआ कहलाते हैं चाहे वे व्यवहारके नाम से धनाढ्य लोगोंने प्रसिद्ध करदिये हों परन्तु वे जूआ ही हैं।

(२) मद्य अर्थात् तम्बाकू से लेकर जितनी नशेवाली द्रव्य हैं सब विषयले और प्रमादजनक होनेसे मद्य ही हैं।

(३) वेश्या—स्वपाणी गृहीत सवर्ण स्वधर्मानुसारी स्त्री से इतर नारी के साथ कुसंग सहचार करना, सब वेश्यागमन के ही अन्तर्गत है।

(४) हिंसा के स्थान अर्थात् मन वाणी शरीर से किसी को पीड़ा देने के स्थान।

(५) स्वर्ण—यानी धन संपति विभूति ऐश्वर्य। उनसे अनुचित शास्त्रविरुद्ध व्यवहार होता है जो निषिद्ध कर्मों को कराता है, वह भी कलि के स्थान हैं। यहाँ धर्मात्मा गृहस्थ के आजीवकामात्र का निषेध नहीं है।

(६) अनृत-झूठ कपट कठोर निंदा हिंसायुक्त भाषण
(७) मद अर्थात् धन राज कुल आदि का अभिमान ।
(८) वैर—किसीसे द्वेष द्रोहादिक अनर्थोंका चिन्तन।
(९) रज-काम क्रोध लोभ मोह मत्सर आदि वृत्तियाँ ।

यह सब कलिमल हैं और उनके विनाश करनेवाला तथा श्री विजय विभूति और मोक्षके देनेवाला तरणतारण में समर्थ यही गीता शास्त्र है दूसरा कोई नहीं है । इसीके अवलोकन द्वारा मनुष्यमात्र अपनेसे अपना उद्धार सुगम कर सकता है, यदि इसको सम्यक विचार ले, तो अन्य शास्त्रके विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

कलिरूप अधर्म से बचकर, धर्म परायण रहकर भगवत् प्राप्ति से अपना और दूसरों का भी उद्धार करना यही मनुष्य जन्म का फल हैं । इसीलिये श्रीभगवान कहते हैं "हे अर्जुन ! इसलिये तू योगी हो" मेरा स्मरण कर और स्वधर्मरूप युद्ध को भी कर" "समताही (अर्थात् फल में पक्षरहित होकर धर्म पालनही,योग है" सुख दुख को सर्वत्र अपने समान देखनेवालाही योगी है" योगयुक्त अन्तःकरणवाला सर्वत्र समदर्शी योगी सब प्राणियों में एक व्यापक आत्मा को, और एक आत्मा में कल्पित सब भूतों को देखता है" कार्य अकार्य की व्यवस्था में तुझे शास्त्रही प्रमाण है (स्वेच्छाचार नहीं) ॥ ॐ ॥ सीताराम

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता का ध्यान ।

ॐ भगवान नारायण ने आप ही जिसको पार्थ के प्रति, बार बार समझाया, पुराणों के कर्त्ता व्यास मुनि ने जिसको महाभारत के मध्य में गूंथ कर रक्खा, अद्वैत अमृत की वर्षा करने वाली अष्टादश अध्याय वाली भगवती, भव विरोधनी भगवद्गीते! हे अम्ब! मैं आपका पुनः पुनः ध्यान स्मरण करता हूँ ॥ १ ॥ हे विशाल बुद्धि वाले, खिले कमल पुष्प के पत्र (पंखड़ी) के सदृश नेत्र वाले, श्री व्यास भगवान! जिन आपने भारत रूप तैल से पूर्ण ज्ञान मय दीपक जलाया है, उन आपके प्रति नमस्कार हो ॥ २ ॥

श्री लक्ष्मी जी जिनकी शरण को प्राप्त हैं, तूत वृक्ष का एक बेत जिनके हाथ में है, ऐसे ज्ञान मुद्रा को धारण करने वाले, गीता रूपी अमृत को दुहने वाले, श्री कृष्ण भगवान के प्रति नमस्कार हो ॥ ३ ॥

सर्व उपनिषद रूपी गाय हैं, उनके दुहने वाले श्री गोपाल नन्दन कृष्ण भगवान हैं, पार्थ बछड़ा है, श्रेष्ठ बुद्धि वाले जिज्ञासू उस दुग्ध के भोक्ता हैं (जो) महान गीता अमृत दुग्ध है ॥ ४ ॥

वसुदेव के सुत श्री कृष्ण देव, जो कंस और चाणूर के मारने वाले हैं, देवकी के परम आनन्द रूप हैं ऐसे जगद्गुरु को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

भीष्म और द्रोण रूपी दो तट हैं जिसके, जयद्रथ रूपी जल है जिसमें, गान्धार रूपी नील कमल हैं जिसमें, शल्य रूपी ग्राह वाली, कृपाचार्य रूपी धारा वाली, कर्ण रूपी लहरों से व्याप्त, अश्वत्थामा और विकर्ण रूप घोर मकर हैं जिसमें, दुर्योधन रूपी भँवर वाली, ऐसी जो रण रूपी नदी है, श्री केशव देव जिसके पार उतारने वाले कैवर्तक (मल्लाह) हैं, उसको, पाण्डु पुत्रों ने, निश्चय करके पार किया ॥ ६ ॥

पाराशर यानी व्यास जी के बचन रूप शुद्ध ताल से उत्पन्न, गीता के अर्थ रूप तीव्र गंध वाला, नाना आख्यान रूपी केसर वाला, हरि कथा के सम्यक् बोधन से समझाया हुआ, जिसको नित्य प्रति (हर इक दिवस) सज्जन रूपी भ्रमर आनन्द से पान करते हैं ऐसा जो भारत रूपी कमल है जो कलि रूपी मल का विनाश करता है, सो हम को कल्याणकारी हो ॥ ७ ॥

जिस श्री भगवान की कृपा, मूक को वाचाल कर देती है, और पंगु को पर्वत लंघा देती है, उस परमानन्द रूप माधव श्री कृष्णदेव को मैं वंदना करता हूं ॥ ८ ॥

जिसकी, ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र, मरूतगण, दिव्य स्तोत्रों द्वारा स्तुति करते हैं, वेदों से और अंग पद क्रम सहित उपनिषदों से, जिसका साम के गायन करने वाले गायन करते हैं, ध्यान में स्थित और उसमें प्राप्त शुद्ध मन से, जिसका योगीजन साक्षात् दर्शन करते हैं (यानी जिसको अपरोक्ष जानते हैं), देव असुरों के समूह जिसके पार को नहीं जानते हैं, उस देव (परमात्मा) के प्रति हमारा नमस्कार है ॥ ६ ॥ इति ध्यानम् ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ श्रीकृष्णामृतरसायनम् प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र बोले :—

हे संजय! धर्म की भूमि, कुरुक्षेत्र में, युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए, मेरे और पाण्डु पुत्रों ने क्या किया? (युद्ध किया वा संधि करली, यह पूछने का प्रयोजन है, क्योंकि धर्मभूमि के प्रभाव से शान्ति स्थापित हो सकती है (१)

(यह सुनकर, संजय ने उत्तर दिया :—) संजय ने कहा :—राजा दुर्योधन, तब, पाण्डव सेना को, चक्राकार रचाई हुई, देख कर, द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन बोले :—॥ २ ॥

हे आचार्य! इस पाण्डु के पुत्रों की बड़ी सेना को देखो, आपके बुद्धिमान शिष्य, द्रुपद के पुत्र दृष्टद्युम्न ने जिसकी चक्राकार रचना की है ॥ ३ ॥

इस सेना में, बड़े धनुषधारी (वीर) युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं, युयुधान (सात्यकी) विराट, और महारथ द्रुपद ॥ धृष्टकेतु, चेकितान और बलवान जो काशी नरेश है, पुरुजित, कुन्तिभोज, और पुरुषों में श्रेष्ठ शैब्य ॥ पराक्रमी युधामन्यु भी और बलवान उत्तमौजा ॥ सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु) और द्रोपदी के सब पुत्र, सब ही महारथ हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

और जो हमारी सेना के मुख्य उत्तम सेनापति हैं उनको आप जान लीजिये हे द्विज श्रेष्ठ! आपके नाम स्मरणार्थ मैं आपसे कहता हूँ ॥ आप स्वयं और भीष्म पितामह, कर्ण भी और युद्ध में जीतने वाले कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, भी और इसी प्रकार सौमदत्ति ॥ और बहुत से शूर हैं जो मेरे लिये जीवन त्यागने वाले हैं, नाना शस्त्रों के चलाने वाले हैं, सबही युद्ध में कुशल हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

वह हमारी सेना बड़ी है और भीष्म द्वारा अच्छी प्रकार से रक्षित है परन्तु उनकी यह सेना थोड़ी है, और भीम से सुरक्षित है (इससे दुर्योधन का अपनी बड़ाई से

सन्तोष सूचित होता हैं जो उसके विनाश का हेतु है, दूसरे टीकाकार पर्याप्त शब्द का अर्थ समर्थ लगाते हैं और अपर्याप्त का अर्थ असमर्थ लगाते हैं सो इस प्रकार है:–) वह हमारी सेना उभय पत्ती भीष्म पितामह से सुरत्तित है (इसलिये) असमर्थ है परन्तु उनकी यह सेना समर्थ है भीम से सुरत्तित है ॥ १० ॥

संपूर्ण अपने २ स्थानों में आप सब ही तो, अपने अपने नियत विभाग के अनुसार स्थित होकर, चारों ओर से भीष्म पितामह की ही रत्ता करो (उनकी रत्ता से हमारी रत्ता है) ॥ ११ ॥

उस दुर्योधन को, पूर्ण हर्षित करते हुए, कौरवों के वृद्ध भीष्म पितामह ने, सिंहवत् उच्च शब्द करके, प्रताप वाले, अपने शंख को बजाया ॥ १२ ॥

तब शंख और भेरी और ढोल, ताशे, गोमुख, एक साथ ही, सब ओर से बजे, वह शब्द बड़ा (ज़ोर का) हुआ ॥ १३ ॥

तब श्वेत घोड़ों से जुड़े हुए वड़े रथ में, बैठे हुए श्री कृष्ण और अर्जुन ने भी, अपने अपने दिव्य शंख बजाये ॥ १४ ॥

हृषीकेश ने पांचजन्य नाम का शंख बजाया, धनंजय अर्जुन ने देवदत्त शंख को बजाया, और भयंकर

धर्म करने वाले, चीते के सदृश कमर वाले भीमसेन ने, अपना बड़ा शंख पौण्ड्र नाम वाला बजाया ॥ १५ ॥

कुंती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख को वजाया और नकुल तथा सहदेव ने अपने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंखों को वजाया ॥ १६ ॥

परम धनुषधारी काश्य ने और महारथ शिखंडी ने, धृष्टद्युम्न ने, विराट ने, तथा अन्यों से न जीते जाने वाले सात्यकी ने, ॥ द्रुपद ने, द्रोपदी के पुत्रों ने, और सुभद्रा के पुत्र बड़ी भुजा वाले अभिमन्यु ने, हे राजन्! सब ओर से अपने जुदा जुदा शंखों को वजाया ॥ १७ ॥ १८ ॥

उस बहुत बड़े शब्द ने, आकाश और पृथ्वी को भी पूर्ण करते हुए, धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को, फाड़ डाला ॥ १९ ॥

तब धृतराष्ट्र के पुत्रों को खड़े हुए देखकर, शस्त्रों का चलना आरंभ होते हुए, कपि के चिन्ह की ध्वजाधारी, पाण्डु पुत्र अर्जुन ने, अपने धनुष को उठाकर ॥ हे राजन् हृषीकेश से तव यह वचन कहा ॥ अर्जुन बोला ॥ हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कर दो ॥ २० ॥ २१ ॥

जहां तक मैं, युद्ध की इच्छा से खड़े हुए वीरों को,

भले प्रकार देख सकूँ, कि इस रण संग्राम में, मुझे किन के साथ युद्ध करना होगा ॥ २२ ॥

जो यह, यहां, एकत्र हुए हैं, उन युद्ध करने की इच्छा वालों को मैं देखलूं ; जो, दुर्बुद्धि वाले, धृतराष्ट्र के पुत्रों की, युद्ध में भलाई करने की इच्छा वाले हैं ॥ २३॥

संजय बोला:— हे भारत! घूंघर वाले केशधारी अर्जुन के ऐसा कहने पर हृषीकेश भगवान ने, दोनों सेनाओं के मध्य में, उत्तम रथ को खड़ा करके ॥ भीष्म द्रोण आदिकों के सन्मुख और सब राजाओं के सामने (रथ स्थित करके) पार्थ से कहा, कि इन एकत्र हुए कौरवों को देखो ॥ २४ ॥ २५ ॥

वहां पार्थ ने, स्थित, पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को और मित्रों को देखा ॥ २६ ॥

ससुरों को, और उपकार करताओं को भी दोनों सेनाओं के मध्य (देखा) वह कुन्ती पुत्र अर्जुन, उन सब संबंधियों को स्थित देखकर ॥ परम मोह से भर कर, दुखी होकर, यह बोला ॥ अर्जुन ने कहा:— हे कृष्ण! युद्ध करने को पूर्ण रूप से समीप स्थित, इन संबंधियों को देखकर ॥ मेरे गात्र के अंग ढीले हुए जाते हैं और मुख सूखा जाता है, मेरे शरीर में पीड़ा भी

—कम्प होती है और रोमाञ्च खड़ाहोता है ॥२७॥२८॥२६॥

गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जाता है और त्वचा भी बहुत जल रही है, मैं खड़ा नहीं हो सकता हूं और मानो मेरा मन भटक रहा है ॥ और हे केशव ! मैं उलटे चिन्ह देख रहा हूं और युद्ध में संवन्धि वर्ग को मार कर, श्रेय को (अनुसारी) नहीं देखता हूँ (न शास्त्रानुसार न स्वानुभव से न शिष्टाचार से, स्वजन हनन, किसी प्रकार से भी किसी के अनुसार, मैं नहीं देखता हूं)॥३०॥३१॥

हे कृष्ण! न मुझे विजय चाहिये और न राज्य और सुखों की इच्छा है, हे गोविन्द! हमको राज्यसे क्या प्रयोजन है और भोगों द्वारा जीने से क्या है ॥ जिनके लिये, हमको राज्य, भोग और सुखों की इच्छा थी, वे स्वजन प्राणों और धनों को त्याग कर, युद्ध में, यह खड़े हैं ॥ आचार्य, पितर, पुत्र और तैसेही, पितामह, मामा, ससुर, पोते, साले और संबंधीगण ॥ हे मधुसूदन ! मारते हुए भी, इन्हों को, मैं मारनेकी इच्छा नहीं करता हूं त्रिलोकी के राज्य के लिये भी नहीं, भला पृथवी के लिये तो क्या? (मैं इनको मारने की इच्छा करूंगा? अर्थात् नहीं करूंगा) ॥३२ ॥३३ ॥३४॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर, हे जनार्दन! हमको क्या प्रसन्नता होगी अथवा हमारा क्या भला होगा, इन

आततताइयों को (निष्प्रयोजन निरपराध घोर घात करने वालों को) मार कर हमको पाप का ही आश्रय लेना होगा ॥ इसलिये हमें अपने बन्धुवर्ग धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना उचित नहीं है क्योंकि हे माधव! स्वजनों को मार कर भला हम कैसे सुखी होंगे? (अर्थात कदापि न होंगे) ॥३६॥३७॥

यद्यपि यह कौरव, लोभ से मारे हुए चित्त वाले होने से, कुलघात से किये हुए दोष को और मित्र की हिन्सा के पातक को, नहीं जानते हैं ॥ परन्तु, हे जनार्दन! कुल के घात से कियेहुए दोप को भले प्रकार जानने वाले, हम लोग, इस पाप से हटजाना, कैसे न जानें?॥३८॥३९॥

कुल के नाश होने से सनातन जो कुल के धर्म हैं वे अत्यन्त नष्ट होजाते हैं, धर्म के नाश होने से, संपूर्ण कुल को अधर्म भी दवा लेता है॥ हे कृष्ण! अधर्म की बढ़ती से, कुल की स्त्रियां अत्यन्त दूषित होजाती हैं और स्त्रियों के दुष्ट होने से, हे वृष्णी कुल वाले भगवान, वर्णों का धर्मविरुद्ध मिलाव होजाता है॥ वर्णों का मेल, कुलघातकों के कुल के नरक प्राप्ति के लिये है, क्योंकि, उनके पितर, पिण्ड और जल की क्रिया से लुप्त हो कर, पतित हो जाते हैं अर्थात् नरकों में जा पड़ते हैं॥४०॥४१॥४२॥

कुलघातकों के, इन वर्णसंकर बनानेवाले दोषों से,

सदा के जाति के धर्म और कुल के धर्म, नष्ट होजाते हैं॥ हे जनार्दन! जिनके कुल के धर्म नष्ट होगये उन मनुष्योंका, नरक में नियत निवास होता है ऐसा हमने गुरु शास्त्र के अनुसार सुना है॥ बड़ा आश्चर्य है, खेद की वात है! हम महान पाप करने को, दृढ़ निश्चय ठाने हुए हैं कि, जो राज्य सुख के लोभ से, स्व संवन्धियों के हनन करने को उद्यम शील हैं ॥४३॥४४॥४५॥

उलट कर विरोध परिहार न करने वाले मुझ शस्त्र रहित को, शस्त्रों को हाथों में लिये धृतराष्ट्र के पुत्र, यदि रण में हनन करदें तो मेरे लिये बहुत भला हो॥४६॥

संजय ने कहाः-अर्जुन इस प्रकार कथन करके, वाणों सहित धनुष को पटक कर, शोक से दुःखित मन होकर, रणभूमि में, रथ के पीछे की ओर, बैठ गया ॥४७॥

इति अर्जुन बिषाद योगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥

(ॐ तत् सत्, यह श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद, ब्रह्मविद्या योगशास्त्र के, श्री कृष्णार्जुन संवाद में अर्जुन बिषाद योग नाम प्रथम अध्याय की "श्रीकृष्णामृत रसायन" नामक हिन्दी भाषा टीका पूर्ण हुई)॥ संपूर्ण गीता के उपदेश का यह तात्पर्य्य हैः-देह भोग और संबंधियों में दुःख और दोषों के दर्शन से वैराग होता है, परन्तु यद्यपि

वैराग होता है तथापि सर्वथा इनके संसर्ग का त्याग स्वाधीन नहीं है, किन्तु पूर्व अदृष्ट के आधीन है, इस से विषाद होता है, अथवा किंकर्त्तव्य विमूढ़ होने से विषाद अर्थात् चिन्ताजन्य खेद होता है, तब जिज्ञासा होती है, और गुरु की शरण होकर यथावत् ज्ञान को प्राप्त होता है, यही बात आगे अध्यायों में कहते हैं :—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

संजय ने कहा :—

इस प्रकार मोह से युक्त, आँसू भरे हुए व्याकुल नेत्र वाले शोकवान उस अर्जुन से, श्री मधुसूदन भगवान, यह वाक्य बोले ॥ १ ॥

श्री भगवान ने कहा :— हे अर्जुन, रणभूमि में उपस्थित हुए तुझको, अनार्य पुरुषों से सेवित, स्वर्ग वर्जित, अपयशकारी, यह मलिनता कहाँ से आई ?॥२॥

हे पार्थ, नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है, हे (परं, शत्रु को तपाने वाले) परंतप, हृदय की इस नीच दुर्बलता को त्याग के उठ खड़ा हो ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा :—हे मधुसूदन, हे शत्रु नाशक भगवान, संग्राम में, पूजा के योग्य भीष्म और द्रोण से,

मैं बाणों से, कैसे प्रतियुद्ध करूँ (कैसे सामने उल्टे बाण मारूँ) ॥ ४ ॥

क्योंकि, महानुभाव गुरूजनों को न मारकर तो, इस संसार में (निंदित) भिक्षा का अन्न भी खाना, श्रेष्ठ है, धन की कामना वाले गुरु जनों को मार कर तो, यहाँ ही, रुधिर से सने हुए, भोगों को भोगना है ॥ ५ ॥

यह भी हम नहीं जानते हैं, कि हमारे लिये कौनसा पक्ष श्रेष्ठ है (भिक्षा माँगना अथवा रुधिर लिप्त भोग भोगना) और फिर हम उनको जीतेंगे अथवा वे हमको जीतेंगे, (यह भी संदेह ही है), जिनको मार कर हम जीना ही नहीं चाहते हैं, वे धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥

(पूर्व शोक मोह युक्त चित्त का आकार दिखाकर, अब अर्जुन, जिज्ञासू होकर आत्मोद्धार के लिये शिष्यभाव को प्राप्त होकर, शरणागत हुआ, प्रार्थना करता है, यह गुरु मुख होने की वैदिक रीति है सो दिखाते हैं :—)

मोह की दीनता रूप दोष से नष्ट स्वभाव, धर्म के प्रसंग में अत्यन्त मोहित चित्त वाला, मैं आप से पूर्वोक्त प्रश्न को करता हूँ, मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे उपदेश करो, मैं आपकी शरण हूँ, जो निश्चय श्रेय हो (कल्याणकारी हो) वह मुझ को कहिये ॥ ७ ॥

पृथ्वी में, विना शत्रु के, राज्य, भोग संपत्ति को और देवताओं के स्वामीपने को (इन्द्रपद को) पाकर भी, जो उपाय, मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर करे, सो मैं नहीं देखता हूँ ॥ ८ ॥

संजय ने कहा:—हृषीकेश से ऐसे कह कर, जित निंद्रा, शत्रु तापन, अर्जुन, "मैं नहीं लडूंगा" यह कह कर बस चुप होगया ॥ ९ ॥

हे भारत, हृषीकेश, दोनों सेनाओं के बीच में, शोक ग्रस्त, उस अर्जुन से हँसते हुए से (उपहास करते हुए) यह वचन बोले ॥ १० ॥

श्रीभगवान ने कहा:—(हे अर्जुन, यह तेरा विवेक नहीं है न दयालुता है किन्तु मोह है यह कहते हैं:—) तू अशोच्य जनों का (आत्म दृष्टि से अविनाशी और शरीर दृष्टि से स्वधर्म में प्रवृत्त इस लिये सर्वथा शोक के अयोग्य भीष्म द्रोणादिकों का) शोक करता है और ज्ञानियों के वचनों को बोलता है (कुल घात से दोष होता है, स्त्री दुष्ट हो जाती हैं, वर्ण संकर होता है, पितर नरक में पड़ते हैं, आततताइयों को भी मारना हिंसा है अधर्म है, इनके विना हमको राज्य से क्या, सुख भोग से क्या है, पूज्यवरों के रक्त से लिप्त भोगों का क्या करना है, भिक्षा मांगना ही इससे तो श्रेष्ट है इत्यादिक धर्म,

वैराग, त्याग, ज्ञान कैसे बचन हैं इनको कहता है) ब्रह्मज्ञानी लोग गतप्राण अर्थात् मरे हुए जनों का और (पीछे रहे हुए) जीवते रहें पुरुषों के लिये शोक नहीं करते हैं ॥११॥

(क्योंकि आत्मा अमर है सब देहों में एक है सत्य है नित्य है इसलिये अशोच्य है यह कहते हैं:—) (तत् पद) कभी मैं न था, (त्वं) तू न था, यह राजा लोग न थे, ऐसा तो है नहीं, और हम सब (असि एक रूप) इससे पीछे आगे को न होंगे, ऐसा भी नहीं है॥(अहं, त्वं, इमे, वयं, देह दृष्टि से अविद्या कल्पित भेद हैं वस्तुतः अनुगत आत्मा एक है, यह कहा, अब यह बतलाते हैं, कि देह उपाधि के परिवर्तन से आत्मा नहीं बदलता है:–)॥१२॥

जैसे इस देह में, देह वाले आत्मा की, कुमार, युवा, जरा हैं (देह की अवस्थायें आत्मा में मान ली हैं) ऐसे ही, दूसरे देह की भी प्राप्ति होती है, उसमें, धीर पुरुष (सावधान ज्ञानी) मोहित नहीं होता है ॥ १३ ॥

इन्द्रियों के विषय संबंध, तो, हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन, सरदी, गरमी, सुख दुःख देने वाले हैं, आने जाने वाले हैं, अनित्य हैं, हे भारत, उनको सहन करो (द्वंद्व, सहन किये बिना, अनिवार्य हैं यह तात्पर्य है) ॥ १४ ॥

(तितिक्षु ही मोक्ष का अधिकारी है, यह कहते हैं:–)

क्योंकि, हे पुरुष श्रेष्ठ, दुःख सुख में समान, जिस धीर पुरुष को, यह विषय संयोग, पीड़ित नहीं कर सकते हैं, वह, मोक्ष के योग्य (अधिकारी) है ॥ १५ ॥

(अनात्मा) असत् की तो सत्ता नहीं है और (आत्मा) सत् का अभाव नहीं होता है, दोनों सत् असत् का निर्णय, तत्वदर्शी (ज्ञानी) जनों ने, देख लिया है ॥ १६ ॥

(आत्मा जो परमात्मा रूप "तत्" पद का लक्ष्य है और जो "त्वं" पद जीव का लक्ष्य भी हैं, सो नित्य है, इस लिये अशोच्य है यह कहते हैं:—)

जिससे यह सब (पट तन्तुवत्) व्याप्त है, उस परमात्मा को तो अविनाशी जानो, इस अविनाशी का विनाश कोई कर नहीं सकता है ॥ नाश रहित, उपमा रहित, नित्य, शरीर वाले आत्मा के, (कल्पित) यह सब शरीर नाश होने वाले कहे हैं, इसलिये हे भारत, तू युद्ध कर (स्वधर्म पालन कर, सब स्व स्व धर्मों का उपलक्षक, युद्ध है सो जान लेना) ॥ १७ ॥ १८ ॥

(आत्मा न तो करता है न क्रिया का विषय, कर्म रूप है यह कहते हैं:—)

जो इस आत्मा को मारने वाला जानता है और जो इसको मारा हुआ मानता है, वे दोनों नहीं जानते हैं

(अज्ञानी हैं) यह आत्मा न मारता है न मारा जाता है (किन्तु नित्य अमर हैं) ॥ १९ ॥

यह आत्मा (षट विकारों से रहित है) कभी भी नहीं जन्मता है (जन्म मरण विकार रहित) न मरता है अथवा यह आत्मा अब होकर फिर होगा यह भी नहीं (इससे अस्ति रूप तीसरे (३) विकार का निषेध जानना) यह अजन्मा, नित्य है (वृद्धि विकार से रहित है, सदा रहने वाला है (अपक्षय विकार से रहित है), पुरातन है, (विपरिणाम से रहित है) शरीर के मारे जाने से मारा नहीं जाता है (विनाशी षट (६) विकार वाला नहीं है) ॥ २० ॥

हे पार्थ, जो पुरुष इस नित्य, अज, निरवयव अविनाशी आत्मा को जानता है (कि यह मैं हूँ) वह पुरुष, किस प्रकार, किस को मरवाता है किसको मारता है (क्योंकि आत्मा तो किसी क्रिया का आश्रय करता, अथवा विषय होने वाला ही नहीं है) ॥ २१ ॥

जैसै मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर, अन्य नवीन वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार, देही आत्मा, जीर्ण (पुराने बोदे होने वाले) शरीरों को त्याग कर अन्य नवीन शरीरों को प्राप्त होता है (एक देही के यानी नित्य आत्मा के अनन्त कल्पित शरीर होते ही रहते हैं

शोक का क्या काम है) ॥ २२ ॥

इस आत्मा को शस्त्र छेदन नहीं कर सकते हैं, न इस आत्मा को अग्नि जला सकती है और न जल गीला कर सकते हैं, न वायु सुखा सकता है ॥ (ऐसा क्यों है सो कहते हैं :—) यह आत्मा अछेद्य है छेदन क्रिया का अविषय है, यह आत्मा अदाह्य है अर्थात् जलाया ही नहीं जा सकता है, भिगोने के अयोग्य है और सुखाया भी नहीं जा सकता है, यह आत्मा है ही नित्य, सर्व व्यापक है, कूटस्थ है, अचल है, सनातन है ॥ (यह आत्मा, अनात्मा जलादिक का विषय नहीं हो सकता यह कह कर अब कहते हैं कि आत्मा सूक्ष्म मन इन्द्रियों का भी विषय नहीं है :-) यह आत्मा अव्यक्त है (अर्थात् इन्द्रियों से इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है) यह मन के चिन्तन का विषय नहीं है (क्योंकि मन भी इदंता रूप अनात्मा को ही विषय करता है) यह आत्मा निर्विकार कहलाता है (घटवत् किसी का कार्य नहीं है) इसलिये इस आत्मा को ऐसा जानकर, तुमको फिर फिर शोक करना उचित नहीं है ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५॥

और जो (अन्याय के बल से वा हठ से) तुम इस आत्मा को सदा जन्मता और सदा मरता मानते हो, तब भी, हे बड़ी भुजा वाले अर्जुन, तुम्हें इस प्रकार शोक

नहीं करना चाहिये ॥ क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु अटल है, और मरे हुए का जन्म लेना निश्चित (अनिवार्य) है, इस वास्ते अनिवार्य विषय में, तुमको शोक करना योग्य नहीं है ॥ सब प्राणी आदि में, अर्थात् देहोत्पत्ति से प्रथम, अव्यक्त (अशरीर) होते हैं, और मर कर भी अशरीर होते हैं, मध्य में (केवल जीवन दशा में) सशरीर भासते हैं, उन शरीरों के विषय में क्या शोक है ? (कुछ भी शोक कर्तव्य नहीं है ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

(अब आत्मा के ज्ञान की आश्चर्यरूपता और दुर्लभता को कहते हैं:—) कोई ही ज्ञानी इस आत्मा को (निर्विशेष रूप से) आश्चर्य की न्याईं साक्षात्कार करता है, और वैसे ही, दूसरा कोई (कुशल ज्ञानी वक्ता) इस आत्मा को आश्चर्य की न्याईं (सामान्य विशेष भाव से रहित अद्वितीय अखण्ड अनन्त रूप) कथन करता है,और दूसरा (कोई ही तीव्र जिज्ञासू), इस आत्माको आश्चर्य की न्याईं (चकित होकर) सुनता है, और कोई २ (निर्भाग्य पुरुष, भूत भविष्यत् वर्तमान किसी पाप की रुकावटों वाला) सुन कर भी, इस आत्मा को नहीं जानता है ॥ २९ ॥

(सब के देहों में आत्मा नित्य सत्य एक अमर है, इस लिये अशोच्य है यह कहते हैं:–)

हे भारत, यह आत्मा सब के देह में सदा अबध्य है

(अमर है) इसलिये तुम, सबही प्राणियों के लिये, शोक करने को अयोग्य हो (अर्थात् किसी भी प्राणी के विषय में हम या कोई जन या तुम, शोक नहीं कर सकते हो) ॥ ३० ॥

(अब स्वधर्म की दृष्टि से भी कर्म करना ही श्रेष्ट है, न करना पाप है यह कहते हैं:—) स्वधर्म को विचार कर भी, तुझे भयभीत होना योग्य नहीं है क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से श्रेष्ठ और (निन्दित भिक्षाटनादि) कर्म क्षत्रिय के लिये नहीं है ॥ और, दैवयोग से स्वयं प्राप्त, स्वर्गके खुले द्वार, ऐसे युद्ध को, भावी सुख भोगने वाले भाग्यवान, क्षत्रिय ही, हे पार्थ प्राप्त होते हैं ॥और जो तू इस धर्मयुक्त संग्रामको न करेगा. तो, स्वधर्मका और यश का विनाश करके तू, पाप को ही प्राप्त होगा ॥३१॥३२॥३३॥

(और सुनो:—) और लोग भी, सदा, तुम्हारे अप-यश का कथन करेंगे, और अपयश माननीय पुरुष के, मरण से भी बढ़कर होता है ॥ ३४ ॥

डर के मारे रण से उपराम होगया (बैठ गया), महारथी लोग तुझे ऐसा मानेंगे, जिनको तू बहु माननीय हुआ है, उनमें ही हलके पने को प्राप्त होगा ॥ ३५ ॥

और तेरे बैरी, तेरे असामर्थ्य की निन्दा करते हुए, बहुत से न कहने योग्य बचनों को कहेंगे, उससे अधिक

दुःख भला क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

यदि मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीत कर पृथवी के राज को भोगेगा (उभय पक्ष में सुखही है) इसलिये हे कुन्ती पुत्र अर्जुन, युद्ध के लिये निश्चय वाला होकर, उठ खड़ा हो ॥ ३७ ॥

(स्वधर्म युद्ध से इस प्रकार पाप न होगा, यह कहते हैं :—) सुख दुःख, लाभ अलाभ, जय और पराजय, इनको समान समझ कर, तब युद्ध के लिये उद्योग कर, इस प्रकार तू पाप को नहीं प्राप्त होगा (कुछ भी क्यों न हो स्वधर्म पालन करना अनिवार्य है इसलिये कर्तव्य है, इस बुद्धि से किया हुआ सब कर्म, निष्पाप होता है यह कहा) ॥ ३८ ॥

हे पार्थ, यह ज्ञान के विषय में बुद्धि (विचार की बात) कही, अब कर्मयोग में, इसी बुद्धि (विचार) को तू सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ, तू कर्म के बंधन को तोड़ेगा ॥ ३९ ॥

इस निष्काम कर्म योग में, आरम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता है, न उल्टी हानि पाप, प्रायश्चित की संभावना है, इस धर्म का थोड़ा भी (अनुष्ठान) महान भय रूप संसार से, (चित्तशुद्धि पूर्वक ज्ञान द्वारा) रक्षा कर देता है ॥ ४० ॥

हे कुरुनन्दन अर्जुन, इस मोक्ष मार्ग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है, (निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि द्वारा ज्ञान होकर मोक्ष होता है यह एक ही व्यवसायात्मिका बुद्धि है) अज्ञानी जनों की बुद्धियाँ बहु शाखा वाली और बे अन्त होती हैं ॥ ४१ ॥

हे पार्थ अर्जुन, अज्ञानी, वेद के अर्थवाद में प्रीति वाले (मन्त्र अनुष्ठान से फल के लोभ दिखाने वाले वेद वाक्यों में रति वाले) और अधिक कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले, सकाम तथा स्वर्ग परायण लोग, जन्म कर्म फल को देने वाली, बहुत सी विशेष क्रिया वाली, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये, जिस, इस पुष्पवत्, खिली रोचक वाणी को, बढ़ाकर कहते हैं॥ उस वाणी से, ठगे हुए चित्त वाले, भोग ऐश्वर्य में आसक्ति वाले जनों के अन्तःकरण में सत्य वस्तु के ज्ञान की एक निश्चय वाली, बुद्धि नहीं होती है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

वेद, तीनों गुणों (और उनके कार्य संसार) को, निरूपण करने वाले हैं, हे अर्जुन, तू तो, तीनों गुणों से अतीत हो, द्वन्द्व रहित हो, नित्य सत्य अर्थात् परमात्मा में स्थित हो, अप्राप्त की प्राप्ति और रक्षा की चिन्ता से रहित हो, आत्मा परायण हो ॥ ४५

(वेदों में ब्रह्मज्ञान अत्यन्त गुह्य रूप से है, इसलिये

कर्म बाहुल्यता के कारण, कर्म काण्ड की ही, वेदों के नाम से गीता में कही हुई, कर्मों के रोचक वाद की, और अल्पफलता की, उक्तियां हैं) ॥

(जैसे) जितना जितना प्रयोजन, एक एक अल्प जलाशय से, सिद्ध होता है उतना सब प्रयोजन सब ओर से परिपूर्ण जल वाले समुद्रादिक से सिद्ध हो जाता है, (इसी प्रकार) सर्व वेदों में (कहे, एक एक क्रिया के अनुष्ठान से) जितना जितना अल्प प्रयोजन सिद्ध होता है, उतना सब, ज्ञानी ब्राह्मण को सिद्ध हो जाता है ॥ ४६ ॥

(तब मैं ज्ञानी क्यों न बनूं, घोर कर्म जाल में क्यों फंसूं इस प्रकार यदि अर्जुन की शंका हो तो उसका समाधान कहते हैं कि अभी पूर्णतया चित्त शुद्ध न होने से) (१) तेरा कर्म में ही अधिकार है, (२) फल में, कदाचित् (किसी प्रकार से भी अधिकार) नहीं है, (३) कर्मफल की इच्छा वाला तू मत हो, (४) तेरी, कर्मत्याग में भी, प्रीति न हो॥(इन चार सूत्रों के रूप में भगवानका उपदेश है और बिना निष्काम कर्म किये ज्ञान के योग्य चित्त शुद्ध नहीं होता, चाहें भगवत दर्शन क्यों न होजावे, यह दिखाया) ॥ ४७ ॥

हे धनंजय, फल की आसक्ति को त्याग कर, फल

की प्राप्ति अप्राप्ति में समान होकर, निष्काम कर्मयोग में स्थित हुआ, कर्मों को कर, क्योंकि समता भाव ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥

हे धनंजय, समत्व बुद्धि रूप ज्ञान योग से, सकाम कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू समत्व बुद्धि ज्ञान की शरण को प्राप्त हो, फल की इच्छा वाले अनुदार (कंजूस) होते हैं (फल मात्र नहीं त्याग सकते इसलिये कृपण हैं ॥४६

समत्व बुद्धि युक्त पुरुष, पुण्य पाप दोनों को, यहीं त्याग देता है, इस वास्ते तू योग के लिये प्रयत्न कर, निष्काम कर्म योग, कर्मों में चातुर्य है (बंध निवृत्तक है) ॥ ५० ॥

(किस लिये ?) क्योंकि समत्व बुद्धि योग से युक्त, बुद्धिमान ज्ञानी जन, कर्म से उत्पन्न फलों को त्यागकर जन्मरूप बंधन से सदा के लिये अत्यन्त मुक्त हुए, अविद्यादि दोष से रहित, परंपद को प्राप्तहोते हैं ॥५१॥

जब तेरी बुद्धि अविवेक रूपी कीचड़ (मलिनता) को, अत्यन्त तर जावेगी, तब तू (इस लोक के) सुने हुए और (परलोक के) सुनने योग्य, उपदेशों से अथवा फलों से, वैराग को प्राप्त होजावेगा ॥ जब श्रुतियों के नाना वाद से विचलित हुई, तेरी बुद्धि, निश्चल (अर्थात् संशय रहित) होकर (विक्षेप रहित) अचल हुई, परमात्मा

में स्थित होगी, तब तू योग को (अर्थात् विवेक प्रज्ञा रूप समाधि को) प्राप्त होगा ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अर्जुन ने कहा :—

हे केशव, समाधि में स्थित, स्थिरबुद्धि वाले पुरुषके (१) क्या लक्षण हैं, स्थिरप्रज्ञा वाला (व्युत्थान हुवा२) (२) कैसे संभाषण करता है, (३) कैसे बैठता है, और (४) कैसे गमनादि क्रिया को करता है ॥ ५४ ॥ (इन चारों प्रश्नों के उत्तर को कहते हैं :—)

श्री भगवान ने कहा :—

हे पार्थ, जब, मन में प्राप्त सब भोगों की इच्छाओं को, पुरुष (संस्कार सहित) त्याग देता है, आत्मा द्वारा, आत्मा में ही सन्तुष्ट (सुखी) होता है, तब वह स्थित प्रज्ञा वाला कहलाता है ॥ (यह समाधि परायण का लक्षण कहा, अब उत्थान हुए स्थित प्रज्ञ का लक्षण कहते हैं :—)

दुःखों में क्षोभ रहित मन (हाय मैं बड़ा पापी हूँ, मैं मर गया, मुझे धिक्कार हैं, इत्यादि ताप से रहित) सुखों में तृष्णा से रहित (मुझे यह धन मिल जावे, मेरे पुत्र स्त्री बड़े योग्य हों, पौत्र हो जावे इत्यादि सुखों की इच्छा से रहित) राग, भय और क्रोध से रहित, मुनि (मनन शील ध्यानी) स्थित बुद्धि वाला कहलाता है ॥

जो सर्वत्र स्नेह से रहित है (सेवा रक्षादि कर्तव्य से विमुख नहीं है केवल स्नेह रहित है) उस उस शुभ वस्तु को प्राप्त होकर प्रसन्न नहीं होता है (अनुकूल पुत्रादिक की प्रशंसा नहीं करता है) अशुभ को प्राप्त होकर द्वेष नहीं करता (प्रतिकूल की निन्दा नहीं करता है) अर्थात् मौनवत् रहता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ (यह कैसे बोलता है इस प्रश्न का उत्तर कहा अब आगे कैसे स्थित होता है इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं :—)

जब यह विद्वान् कछवेके अंगों की न्याईं, सब ओर से, अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥५५॥५६॥५७॥५८॥

(मन का रस न गया तो इन्द्रियों के रोकने से क्या लाभ, इस शंका का निवारण करते हैं :—) निराहार (किसी २ हठधारी, मूढ, तपस्वी अथवा रोगी) पुरुष के भी विषय छूट जातें हैं (परन्तु) रस वर्जित ही छूटते हैं रस बना रहता है, इस स्थित प्रज्ञ का तो, रस भी, परमात्मा को साक्षात्कार करके छूट जाता है (अर्थात् मनकी लालसा भी जाती रहती है) ॥ ५९॥

(इसमें क्या कठिनाई है सो कहते है :—) हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, क्योंकि, यत्न शील विद्वान पुरुष की, चित्त को व्याकुल करने वाली, इन्द्रियाँ यत्न करते हुये

भी, बलात्कार से मन को हर लेती हैं यानी डिगा देती हैं ॥ (इस लिये) (विद्वान्) उन सब को सम्यक् वश में करके, समाहित होकर, मेरे परायण हुआ स्थित होवे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६० ॥ ६१ ॥

(११ से ३० श्लोक तक त्वं पद कहा, अब पूर्वोक्त श्लोक में "मत्परः" से जो तत् पद कहा है उसी का अगले ७ से १२ अध्याय तक सविस्तार कथन करेंगे)

विषयों को चिन्तन करते हुए पुरुष का, उन विषयों में राग हो जाता है, राग से (अर्थात् अनूकूलता के संस्कार वाले प्रेम से) काम अर्थात् भोग की इच्छा का वेग उपजता है, काम से (किंचित रुकावट होने पर ही) क्रोध उत्पन्न होता है ॥ क्रोध से अत्यंत अविवेक होता है, अविवेक से, (आचार्य और शास्त्र से प्राप्त हुई धैर्य और ज्ञान की) स्मृति चलायमान हो जाती है यानी भ्रान्ति हो जाती है, स्मृति की भ्रष्टता से बुद्धि के ज्ञान का नाश हो जाता है और ज्ञान के नाश से वह, अपने कल्याण की ओर से विनाश को प्राप्त हो जाता है ॥ (इसलिये विषय चिन्तन रोकना चाहिये) ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

(वही विषय भोग नियमित और धर्मानुकूल हो, तो मोक्ष प्रद है, सोई कहते हैं :-)

परन्तु, विजित मन पुरुष, अपने आधीन, राग द्वेष से वर्जित हुई इन्द्रियों से, अनिषिद्ध विषयों को, भोगता हुआ प्रसाद को अर्थात् (चित्त की प्रसन्नता स्वच्छता रूप शुद्धि को अथवा) स्वरूप स्थिति को प्राप्त होता है ॥ स्वरूप में अचल स्थितिरूप प्रसाद (यानी बुद्धि की शुद्धि) के होने पर, इसके सब दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, शुद्धचित्त वाले की बुद्धि शीघ्रही (आकाशवत् पूर्ण असंग आत्मा में) भले प्रकार स्थिर होजाती है ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

असमाहित पुरुष के (विक्षिप्त चित्त वाले के) आत्मा विषयणी बुद्धि नहीं होती है और उस अयुक्त पुरुष के, मन की, आत्मा में स्थिरता नहीं है और विना उपशम के शांति अर्थात् निष्ठा कहां है? और बिना शांति अर्थात् निष्ठा के सुख कहां है(अर्थात् ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त होताहै)॥६६

क्योंकि जैसे वायू, नाव को, जल में (कहीं से कहीं लेजाती है) ऐसेही विचरती हुई इन्द्रियों में, जिस एक इन्द्रिय के अनुसार, मन हो जाता है वह मन, उस पुरुष की बुद्धि को (परमार्थ से दूर) उड़ा लेजाता है॥ इसलिये हे महाबाहो, जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से सर्व प्रकार से निग्रह कीहुई हैं उसकी बुद्धि स्थिरहै॥६७॥६८

(अविद्या काम कर्म अहंकार ममकार की निवृत्ति मोक्ष है और शान्ति है यह कहते हैं:—)

जो (परमार्थ तत्व), सब प्राणियों के लिये, (अज्ञान से ढका हुवा है, इस लिये) रात्रिवत् है उसमें संयमी जागता हैं (सावधान रहता है) जिस अविद्या में सब प्राणी मात्र जागते हैं (व्यवहार करते हैं) वह अविद्या, ज्ञानी मुनी के लिये, मानों रात्रि है (अप्रवृत्ति का विषय है) ॥ जिस प्रकार, परिपूर्ण, अचल स्थित, समुद्र में (नदियों के अथवा वर्षा के) जल प्रवेश करते हैं (परन्तु वह शान्त मर्यादा में स्थित रहता हैं), इसी प्रकार, जिस स्थित प्रज्ञ के प्रति, सर्व प्राप्त भोग (आत्म दृष्टि से) लीन हो जाते हैं (यानी अपने आधीन नहीं करते हैं), वह पुरुष (हर्ष विषाद रहित) शान्ति को प्राप्त होता हैं, भोगों की कामना वाला ऐसा नहीं होता है (शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, न हर्ष विषाद रहित होता है, न विमुक्त होता है)॥ जो पुरुष सर्व भोगोंकी इच्छाओं को त्यागकर, तृष्णा रहित, ममता रहित, अहंकार रहित, वर्तता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है॥ हे पार्थ, यह ब्रह्म निष्ठा है इस को पाकर कोई भ्रान्त नहीं होता है, अन्त काल में (वृद्धावस्था में भी वा मरण समय) भी इस ब्रह्म में स्थित हो कर वह निष्प्रपञ्च ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

इति सांख्य योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः॥

अथ तृतीयोऽध्यायः॥

पीछे दूसरे अध्याय में, अलग अलग दो निष्ठा दिखलाई, एक ज्ञान निष्ठा, दूसरी कर्मयोग निष्ठा॥ (१) "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" से "स्वधर्मपिचावेक्ष्य" तक, जो परमार्थ आत्म तत्व का निरूपण किया है, सो "सांख्य" है॥ इस से जो आत्म विषयणी बुद्धि होती है, सो सांख्य बुद्धि है, अथवा ज्ञान योग वा ज्ञान निष्ठा कहलाती है, और ऐसी बुद्धिवाले ज्ञानी जन सांख्य पुरुष कहलाते हैं, इससे पृथक ही कर्म योग है॥ ज्ञान निष्ठा का निरूपण स्थित प्रज्ञ के लक्षणों में है॥ इस सांख्य से, आत्मा असंग है, न करता है, न कराता है, यह जान कर, ब्रह्मावस्थान, इष्ट है॥ (२) इस सांख्य बुद्धि की उत्पत्ति से पहिले, आत्मा को देह रहित परन्तु कर्ता भोक्ता मानते हुए, धर्माधर्म के विवेक पूर्व्वक, स्वधर्म पालन करते हुए, चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्ति के लिये जो कर्म है सो "योग" है, जो कर्म की कर्तव्य परायणता है सो "योग निष्ठा" है, वैसी कर्तव्यता की बुद्धि, "योग बुद्धि" है और जिनको ऐसी योग बुद्धि धारण करना उचित्त है वे योगी कहलाते हैं॥

समत्व बुद्धि योग, अथवा ज्ञान योग से, सकाम कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, यह भगवान दूसरे अध्याय के ४६ के श्लोक में कह चुके हैं, इसलिये अर्जुन अपनी शङ्का निवारणार्थ प्रश्न करता है इससे यह तीसरे अध्याय का आरम्भ होता है:—

अर्जुन ने कहा:—

हे कृष्ण, यदि कर्म से, ज्ञान को आपने श्रेष्ठ माना है, तब, हे केशव, मुझ को, इस भयानक, युद्ध रूप, हिंसात्मक तामस कर्म में, क्यों प्रेरते हो? ॥ १ ॥

मानों मिश्रित वाक्य से, मेरी बुद्धि को मोहित सी करते हो, वह एक बात निश्चय करके कहिये, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ॥ ("तू तीनों गुणों से रहित हो" "तेरा कर्म में ही अधिकार है" ऐसे २ यह वाक्य मुझे, मिले जुले से प्रतीत होते हैं इनसे मैं भ्रान्त हो रहा हूं, यह भ्रम दूर कीजिये, यह अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य्य है) ॥ २ ॥

श्रीभगवान ने कहा:—

हे निष्पाप, पूर्व, मैंने, इस लोक में, दो प्रकार की निष्ठा कही हैं, ज्ञान योग से तो ज्ञानियों की और कर्म योग से योगियों की (निष्ठा कही है) ॥ ३ ॥

पुरुष, कर्मों के न करसे से (बिना ज्ञान वैराग्य के)

अकरता स्वरूप से स्थिति को नहीं प्राप्त होता है और (बिना ज्ञान वैराग के) सन्यास से ही, अन्तःकरण की शुद्धि अथवा मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है (ज्ञान योग निष्ठा अर्थात् निष्क्रिय आत्म स्वरूप से स्थिति ही नैष्कर्म्य है यह जानना) ॥ ४ ॥

क्योंकि कोई भी अज्ञ क्षण भर, बिना कर्म किये कभी नहीं बैठ सकता है, सब ही को विवश होकर, प्रकृति के गुणों द्वारा, कर्म, करना पड़ता है ॥ (पूर्व तीसरे श्लोक में सांख्यों को पृथक कर दिया और १७, १८, श्लोक में भी, "तस्य कार्यं न विद्यते" अर्थात् उस ज्ञानी को कर्तव्य नहीं है यह कहेंगे, इस लिये अज्ञों के लिये ही कर्म योग है तज्ञों के लिये नहीं है यह ज्ञात होता है, अज्ञों का कर्म ही, कर्म कहलाता है क्योंकि सवासनीक है और ज्ञान द्वारा दग्ध होजाने से, तज्ञों का कर्म निर्वासनीक है इसलिये अकर्म ब्रह्म रूप ही है, इस लिये सांख्य पुरुष, सदा कर्म रहित हुआ अकर्म ब्रह्म में ही स्थित है यह जानना) ॥ ५ ॥

जो विमूढात्मा अर्थात् अविवेकी पुरुष, कर्म इन्द्रियों को हठ से रोक कर इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता हुआ स्थित रहता है, वह कपटाचार वाला कहलाता है ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन, जो अज्ञ तो, मन से (विवेक द्वारा) इन्द्रियों को वश में करके, आसक्ति रहित होकर, कर्म इन्द्रियों से, कर्म योग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ होता है॥ ७ ॥

(इसलिये) तू (शास्त्र की विधि से) नियत किये हुए (स्ववर्णाश्रम धर्म वाले) कर्म को कर, क्योंकि, कर्म न करने से, कर्म करना, श्रेष्ठ है, अकर्म से तो तेरी शरीर यात्रा भी कुछ सिद्ध नहीं होगी ॥ ८ ॥

यज्ञ के लिये कर्म से जुदा, यह जन, बन्धन रूप कर्म वाला होता है, हे कौन्तेय अर्जुन, फल की आसक्ति से रहित होकर, यज्ञार्थ कर्म को सम्यक् आचरण कर ॥ (आगे १२ प्रकार के यज्ञ कहेंगे, वे कर्म, अथवा मन वाणी शरीर से ईश्वराज्ञा पालन के लिये तथा ईश्वरार्पण किये जो कर्म हैं अथवा ईश्वर प्राप्ति के लिये जो साधन रूप कर्म हैं वह सब यज्ञ हैं और "यज्ञो वै विष्णु" अर्थात् विष्णु ही यज्ञ है ऐसा भी कहा है, सो जान लेना) ॥ ६ ॥

प्रजापति ने, पहले यज्ञ सहित प्रजा को उत्पन्न करके कहा, कि इस यज्ञ से तुम फलो फूलो, यह यज्ञ, तुम्हारे लिये, इच्छित कामनाओं का देने वाला हो ॥ १० ॥

इस यज्ञ से, तुम देवताओं का पूजन करो, वे देवता,

(वृष्टि द्वारा) तुम्हारी बढती करें, परस्पर एक दूसरे को सम्मानित करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होगे ॥ यज्ञ से पूजित (वे) देवता तुम्हें इष्ट भोगों को देंगे,(अनिष्ट को नहीं देंगे), उन देवताओं के दिए हुए भोगों को, जो पुरुष, उन्हीं देवताओं को प्रदान किये विना (यज्ञ द्वारा समर्पित किये विना जो) भोगता है, वह चोर ही है ॥ यज्ञ से बचे अन्न को खाने वाले, सर्व पापों से छूट जाते हैं, परन्तु जो पापी लोग अपने लिये ही पकाते हैं वे पाप को ही भोजन करते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अन्न से प्राणी होते हैं, मेघ वर्षा से अन्न की उत्पत्ति होती है, यज्ञ से वृष्टि होती है, यज्ञ कर्म से होता है ॥ कर्म को, वेद से उत्पन्न हुआ जानों, वेद को अक्षर परमात्मा से (निःश्वासवत्) उत्पन्न हुआ जानो, इस लिये, सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में स्थित है ॥ १४ ॥ १५ ॥

हे पार्थ, जो कर्माधिकारी पुरुष, इस प्रकार के चलाये हुए सृष्टि के चक्र के अनुसार, इस लोक में नहीं चलता है, वह पाप रूप आयुष वाला, इन्द्रियों के भोगों में रमण करने वाला पुरुष, व्यर्थ जीता है (उसका जीना निष्फल है) ॥१६॥

(यहां तक कर्माधिकारी अज्ञ की बात कही, कोई भी

अज्ञ किसी भी वर्णाश्रम वाला हो, उस पर शास्त्रोक्त कर्म करनेकी विधि है,यदि तज्ञ भी हो परन्तु व्यवहार परायण हो तो उसको शिष्टाचार से लोक संग्रहार्थ कर्म करने की अनुमति है, यह बात श्री भगवान आगे कहेंगे, इसीलिये स्थानधारी विद्वान ज्ञानी यतिवर भी लोक संग्रहार्थ कर्म करते हैं, और जो विरक्त ज्ञानी हैं वे विधि निषेध से रहित हैं इसी बात को श्रीभगवान आगे के दो श्लोकों में कहेंगे, इसमें भी यह बात विचारने योग्य है कि मन इन्द्रिय के निरोध पूर्वक आत्मनिष्ठ रहने से ही स्थित प्रज्ञ आत्मरति कहलाता है चाहें वह गृहस्थादिक किसी आश्रम के वेष में हो वह कर्तव्य विनिर्मुक्त हैं, इसीलिये श्री भगवान ने आगेके श्लोकमें "मानव" शब्द दिया है वहाँ किसी जाति या आश्रम का पक्षपात नहीं है, निष्ठा से ही तात्पर्य है सो कहते हैं:—)

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति वाला है (विषयों में नहीं) आत्मा में ही तृप्ति वाला है (अन्न रसादि में नहीं) और आत्मा में ही सन्तुष्ट है (बाह्यार्थ लाभ में नहीं) उस मनुष्य को कोई कर्तव्य नहीं है॥ यहाँ उस मनुष्य का कर्म किये जाने से कुछ प्रयोजन नहीं है और न कुछ, न किये जाने से, प्रयोजन है (लाभ वा पाप वा हानि है) और न इसका सर्व प्राणियों

में कोई स्वार्थ संबंध है जिसका आश्रय लेना हो ॥ (इससे ज्ञात हुवा कि आत्मरति आत्म तृप्ति और आत्म संतोष ही विधि निषेध के अभाव की कसौटी है और यह स्व संवेद्य है अलब्ध हो तो पुरुषार्थ से प्राप्त करने योग्य है, न प्राप्त होने पर, जो अपने चित्त पर, दूसरों के उदाहरण लेकर वा प्रारब्ध भोग की आड में वा चिद्विलास आभास मात्र कहकर, परदा डालता है वह आत्म घातक असावधान है फिर पछतावेगा) ॥१७॥१८॥

(क्योंकि तुम ऐसे आत्म रति आत्म तृप्त आत्म सन्तुष्ट सम्यक दर्शन वाले नहीं हो) इसलिये, आसक्ति रहित होकर (हठ और फल की इच्छा छोड़ कर) तुम कर्तव्य कर्म का सम्यक आचरण करो, क्योंकि पुरुष, अनासक्त होकर कर्म करता हुआ, (चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान होकर) परमात्मा को प्राप्त होता है ॥ क्योंकि जनकादिक कर्म द्वारा ही मोक्ष पद में सम्यक स्थित हुए हैं (इसलिये) लोकोपकार को सम्यक देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना ही योग्य है ॥ (लोगों की कुमार्ग प्रवृत्ति निवारण करना लोक संग्रह कहलाता है यह जानना) ॥ १९ ॥ २० ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी वही वही करते हैं वह पुरुष जो (लौकिक वैदिक

कर्म) प्रमाण कर देता है लोग उसके अनुसार वर्तते हैं॥२१॥

हे पार्थ, तीनों लोकों में, मुझे कोई कर्तव्य नहीं है और न कुछ अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने योग्य है, तो भी मैं, कर्म में ही वर्तता हूँ ॥ क्योंकि यदि मैं, आलस्य त्याग कर, कभी कर्म में न वर्तूं, तो हे पार्थ, मनुष्य सब प्रकार से, मेरे मार्ग के अनुसार ही वर्तते हैं (वे भी न वर्तेंगे) ॥ २२ ॥ २३ ॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो यह लोक नष्ट भ्रष्ट होजावें, मैं वर्णसंकर का करनेवाला बनूं, अपनी प्रजा को हनन करने वाला बनूं ॥ २४ ॥

(अगर तू अपने आपको अज्ञानी मानता हुआ सकुचाता हो और ज्ञानी मानता हो तब व्यवहार परायण होने से, और लोकोपकार की दृष्टि से तुझे कर्म कर्तव्य है यह कहते हैं :—)

हे भारत, जिस प्रकार अज्ञानी (हठ अहंकार और कर्मफल में) आसक्ति वाले हुए कर्मको करते हैं, वैसे ही, ज्ञानी, आसक्ति रहित होकर, लोगों की निषिद्ध प्रवृत्ति के निवारणार्थ, कर्म करे ॥ २५॥

ज्ञानी पुरुष, कर्मों में आसक्ति वाले, अज्ञानियों की बुद्धि में, भेद को (अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य भ्रम को) न उपजावे, स्वयं समाहित चित्त होकर, (अथवा क्रियायुक्त

हुआ) सब कर्मों को सम्यक करता हुआ, अन्यों को कर्मों में जोड़े (उनसे प्रेरणा करके कर्म करावे) ॥ २६ ॥

सब प्रकार से कर्म, प्रकृति के गुणों से (उनके कार्य करण मन इन्द्रिय आदिकों द्वारा) किये हुए हैं, अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला पुरुष, मैं कर्ता हूँ ऐसे मानता है ॥ परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के विभाग के सार को जानने वाला (कि आत्मा, गुण विभाग और कर्म विभाग से पृथक असंग है यह जानता हुआ) इन्द्रिय मनादिक, अपने विषयों में वर्तते हैं (आत्मा असंग है) ऐसा जानता हुआ (अहंकार वा फल में) आसक्त नहीं होता है ॥ प्रकृति के गुणों से मोहित हुए हुए (गुणों के कार्य भोग संपत्ति आदिक की लालसा में फँसे हुए) गुण कर्म में आसक्त होते हैं, (इन्द्रियों की क्रिया और विषयों में फँसते हैं) उन अल्पज्ञ कर्म फल मात्र दर्शियों को, बेसमझ मूर्खों को, सम्यक् ज्ञानी पुरुष, चलायमान (यानी भ्रान्त) न करे ॥ २७ ॥ २८ ॥ २६ ॥

भगवदासक्त चित्त से, सब कर्मों को, मुझ में समर्पण करके, विजय फल की आशा रहित और (संबंधियों की) ममता से रहित होकर, (शोक मोह) संताप से रहित होकर, युद्ध कर ॥ ३० ॥

जो मनुष्य (वर्णाश्रम के पक्षपात को छोड़ कर कि अमुक को अधिकार है अमुक को नहीं) श्रद्धावान होकर और दोषदर्शन से रहित होकर, मेरे इस मत का (स्व स्व धर्मानुसार) सदा अनष्ठान करते हैं, वे भी (चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान होकर) कर्मों से छूट जाते हैं॥ परन्तु जो, बे समझ लोग, दोष दर्शन वाले होकर, इस मेरे मत के अनुसार नहीं चलते हैं, उनको सर्व ज्ञान से विभ्रान्त, भ्रष्ट (पुरुषार्थ से पतित) जानों॥ ३१॥ ३२॥

(सब धर्मात्मा क्यों नहीं होते इस शङ्का का समाधान करते हैं:—)

ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है (चेष्टा बदल नहीं सकता है) प्राणी मात्र स्वभाव की ओर जाते हैं, (मेरा वा अन्य का) निग्रह क्या करेगा (ऐसा करो वा न करो, यह हठ करना व्यर्थ है)॥३३॥

इन्द्रिय के भोगों में, इन्द्रिय के राग द्वेष स्थित हैं, उन दोनों के वश में मत आओ, वे दोनों, इस मनुष्य के कल्याण के मार्ग में विघ्नकारी हैं॥ (प्रथम से यानी आरंम्भ होते ही, राग द्वेष त्याग देने पर, मनुष्य की, शास्त्र दृष्टि ही बनी रहेगी, वह प्रकृति के वश में न होगा, यहाँ तक ही पुरुषार्थ सफल है)॥ ३४॥

भले प्रकार अनुष्ठान किये हुए, पर धर्म से, गुण

रहित भी (अथवा देखने मात्र हिंसादि अवगुण युक्त भी) स्वधर्म श्रेष्ठ है, स्वधर्म में मरना श्रेष्ठ है, परधर्म (नरकादिक के अथवा समाज से बहिष्कारादि के) भय को देने वाला है ॥ ३५ ॥

अर्जुन ने कहाः—

हे वृष्णी कुल में उत्पन्न हुए श्री कृष्ण, भला किस से प्रेरा हुआ यह पुरुष न चाहता हुआ भी पापाचरण करता है, मानों, बल से प्रेरकर लगाया हुआ है ॥ ३६ ॥

श्री भगवान ने कहाः—

रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह कामरूप ही यह क्रोध है, महान भक्षी है, महा पापी है, इस काम को, तू इस मोक्ष मार्ग में बैरी जान ॥ जिस प्रकार अग्नि धूम से आच्छादित होता है, जैसे दर्पण मल से ढका जाता है, जैसे गर्भ जेर से ढका होता है वैसे ही यह ज्ञान, उस (क्रोध रूप) काम से ढका होता है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

और हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, इस ज्ञानी के नित्य बैरी, पूर्ण न होने वाली काम रूप अग्नि से, यह ज्ञान ढका हुआ है ॥ इन्द्रिय मन और बुद्धि इस काम के निवास के स्थान हैं, यह काम, इन मन बुद्धि इन्द्रियों द्वारा, ज्ञान को ढक कर, देहाभिमानी जीवात्मा को,

मोहित करता है (भ्रमयुक्त करता है) ॥ इस वास्ते, हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन, तुम आरम्भ में ही इन इन्द्रियों को (शास्त्रानुसार) निग्रह करके, ज्ञान विज्ञान (अपरोक्षानुभव) के नाशक पापी काम को जीतो (बिलकुल त्याग करो) ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

(किस के आश्रय से इस काम को जीतें ऐसी शंका होने पर, यह समाधान करते हैं कि बुद्धि से परे जो आत्मा रूप परमात्मा है वही मुख्य आश्रय लेने योग्य है इस लिये उसी का आश्रय लेना चाहिये यही बात कहते हैं:—)

स्थूल देह की अपेक्षा से, इन्द्रियों को, तत्व वेत्ता जन, सूक्ष्म (व्यापी अन्तर और श्रेष्ठ) कहते हैं, इन्द्रियों से मन को सूक्ष्म कहते हैं, मन से बुद्धि सूक्ष्म है और जो बुद्धि से परे (सूक्ष्म और श्रेष्ठ) है सो वह (आत्मा, बुद्धि का द्रष्टा, असंग चिति परमात्मा) है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को जान कर, विवेक द्वारा अपने पुरुषार्थ प्रयत्न से, मन को, आत्मा में सम्यक् निरुद्ध करके, हे महाबाहो अर्जुन, काम रूप दुर्जय शत्रु को जीतो (परित्याग करो) ॥ ४३ ॥

इति कर्मयोगो नाम त्रितीयोऽध्यायः ॥ इत्योम् ॥

—*—

ॐ तत् सत् परमात्मने नमः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

श्री भगवान ने कहा :—मैंने इस अविनाशी (नित्य मोक्ष फल वाले) योग को सूर्य से कहा, सूर्य ने मनु से कहा, मनु ने इक्ष्वाकू से कहा ॥ इस प्रकार, हे अर्जुन, परंपरा से प्राप्त इस योग को, राज ऋषियों ने जाना, वह योग बहुत काल से यहाँ, (संप्रदाय के विच्छेद के कारण) नष्ट (के सदृश) हो गया ॥ वह ही, यह पुरातन योग, मैंने, अब, तुझ से कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम और अति गोपनीय है, इसलिये कहा ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा :—आपका जन्म पीछे हुआ है, सूर्य का जन्म पहला है यह मैं कैसे जानूं कि आपने आदि में कहा था ॥ ४ ॥

श्री भगवान ने कहा :-हे अर्जुन, मेरे और तेरे, बहुत से, जन्म, होचुके, हे परंतप, मैं उन सबको जानता हूं, तू नहीं जानता है ॥ (इस कथन से, श्री भगवान ने, अर्जुन के हृदयगत, यदि वासुदेव में अनीश्वरता अथवा असर्वज्ञता की शंका हो तो, उसका समाधान कर दिया, अब शंका होती है कि नित्य ईश्वर के तो धर्माधर्म का

अभाव है फिर ईश्वर का जन्म कैसे हुआ इस शंका का समाधान करते हैं :—) अज होता हुआ भी, अविनाशी स्वरूप भी, और प्राणियों का ईश्वर होकर भी, अपनी प्रकृति को अपने आश्रित करके, मैं अपनी माया से (देहवान की न्याई) प्रकट होता हूँ ॥ ५ ॥ ६ ॥

(अब जन्म का प्रयोजन कहते हैं :—) हे भारत, जब जब धर्म की हानि और अधर्म की सब ओर से प्रवृत्ति होती है, तब मैं अपने आपको (अवतार स्वरूप से) रचता हूँ ॥ सन्मार्ग में स्थित पुरुषों की, पूर्ण रक्षा के लिये, और दुष्ट कर्म करने वालों के विनाश के लिये, तथा धर्म के सम्यक् स्थापन करने के लिये, मैं युग युग में सम्यक् प्रकट होता हूं ॥ ७ ॥ ८ ॥

हे अर्जुन, मेरा मायिक जन्म, और साधु परित्राणादि कर्म, अलौकिक हैं, इस प्रकार, जो पुरुष, वस्तुतः स्वरूप से जानता हैं (कि ईश्वर का माया रचित ही यह अवतारादि रचनात्मक विलास हैं, वस्तुतः वह निष्प्रपञ्च माया रहित हैं, यह तत्व है, सोई मैं हूं उससे पृथक नहीं यह तत्व ज्ञान है) वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है मुझ को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

(यह मोक्ष मार्ग अभी का नहीं है पूर्व का है इस बात को कहते हैं :—)

राग, भय, और क्रोध से रहित, मेरे स्वरूप को अपना स्वरूप मानने वाले (ईश्वर के साथ अभेद दर्शी ब्रह्मवित्) मेरे शरण हुए (अर्थात् केवल ज्ञान निष्ठ हुए) बहुत से पुरुष ज्ञान रूप तप से, पवित्र होकर, मेरे स्वरूप को (मोक्ष पद को) प्राप्त होचुके हैं ॥ १० ॥

जो (सकाम आर्त्त, वा मुमुक्षु वा ज्ञानी) मुझ को, जैसे (जिस प्रकार से, जिस निमित्त से, जिस फल की इच्छा से) भजते हैं, मैं उनको वैसे ही भजता हूं (फल प्रदान करके अनुग्रहीत करता हूं) हे अर्जुन, मनुष्य, सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बर्तते हैं (क्योंकि सब रूप से मैं ही तो स्थित हूं) ॥ ११ ॥

कर्मों के फल की इच्छा करते हुए, यहाँ देवताओं को पूजते हैं क्योंकि मनुष्य लोक में, (मनुष्य शरीर में ही शास्त्राधिकार होने से) कर्म से उत्पन्न हुआ फल शीघ्र, प्राप्त होता है (इसलिये क्षुद्र कामनाओं के लिये देवताओं को छोड़ कर ईश्वर प्राप्ति के लिये ही, पुरुषार्थ करना योग्य है) ॥ १२ ॥

सत्वादि गुण और शमदमादि युक्त शुभ कर्मों के विभाग से, चारों वर्णों का विभाग मैंने रचा (उसी की परंपरा के अनुसार चलना उचित है तोड़कर फोड़कर स्व कल्पना से, चलना उचित नहीं है) मायिक दृष्टि से,

मुझे, उस वर्ण विभाग के कर्ता को भी, (परमार्थ दृष्टि से तो) स्वरूप से अविनाशी अकर्ता जानों (ऐसा न मानें तो संसार को सत्य होने से उसका ज्ञान से नाश न होगा और अनिर्मोक्ष प्राप्त होने से मोक्ष शास्त्र निष्फल होगा यह वेद विरुद्ध है) ॥ १३ ॥

मुझे कर्म (पाप पुण्य से) लिप्त नहीं करते, (क्योंकि) मुझे कर्मों के फल में तृष्णा नहीं है, इस प्रकार, जो, मुझे, स्वरूप से जानता है, (कि मैं अकर्ता अभोक्ता हूँ, और आत्मा होने से, मैं भी भगवान का स्व स्वरूप ऐसा ही हूँ) वह पुरुष कर्मों से नहीं बँधता है ॥ १४ ॥

(न मैं करता हूँ न मुझे कर्म फल में स्पृहा है) इस प्रकार जान कर, पूर्व मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है इस लिये, पूर्वजनों से, पूर्व से पूर्व किये हुए, कर्मों को ही तू कर ॥ १५ ॥

कर्म क्या है अकर्म क्या है, इस विषय में पंडित भी मोहित हैं, वह कर्म (इस मिष से ज्ञान) मैं तुझ से कहूँगा, जिसको जान कर, तू अशुभ संसार से छूट जावेगा ॥ १६ ॥

कर्म का स्वरूप भी जानने योग्य है और अकर्म(त्याग) का स्वरूप भी जानने योग्य है और निषिद्ध कर्म का भी

स्वरूप जानने योग्य है क्योंकि कर्म की गति (कर्म के स्वरूप का तथा फल का ज्ञान) बहुत सूक्ष्म है ॥ १७ ॥

(कर्मादिक से, जानने योग्य, जो सार तत्व हैं उसको कहते हैं :—)

जो पुरुष कर्म में (जैसे नाव में बैठे हुए किनारे के वृक्षों का चलना मिथ्या है ऐसे कर्म भी अविद्या का कार्य असत्य है यों समझ कर) अकर्म अर्थात् अधिष्ठान आत्मा अक्रिय) जानता है और जो पुरुष अकर्म में अर्थात् अहङ्कार युक्त क्रिया त्याग कर चुप बैठने में, हठ रूप कर्म अथवा पाप रूप) कर्म देखता है, वह पुरुष, मनुष्यों में बुद्धिमान ज्ञानी है, वह समाहित है, सब कर्मों को छेदन कर चुका है अथवा सब कर्म कर चुका, (अब मुक्त है) ॥ १८ ॥

जिस ज्ञानी मनुष्य के, संपूर्ण कार्य, (प्रवृत्ति हो तो लोक संग्रह के लिये हो, और निवृत्ति हो तो जीवन मात्र निर्वाह के वास्ते, यह जान कर) कामना और उसके कारण संकल्प से रहित हैं, उस ज्ञान रूप अग्नि से दग्ध कर्म वाले को, ज्ञानी जन, पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

(जो संन्यासी वा जो ज्ञानी किसी प्रारब्ध निमित्त से कर्म त्याग न कर सका वह) आश्रय से रहित, सदा

आत्मा में तृप्त, कर्म फल में आसक्ति को त्यागकर, कर्म में, अच्छी प्रकार से प्रवृत्त हुआ भी, वह पुरुष (निष्क्रिय स्वरूप आत्मदर्शी होने से) कुछ भी नहीं करता है ॥ आशा से रहित, जीत लिया है चित्त और शरीर जिसने, त्याग दी सब भोग की सामग्री जिसने, (ऐसा पुरुष) केवल शरीर के (शरीर की स्थिति मात्र प्रयोजन वाले और उसमें भी अभिमान से रहित) कर्म को करता हुआ पाप को (यानी संसार को) नहीं प्राप्त होता है ॥ विना माँगे हुये लाभ से संतुष्ट (सुख दुःख हर्ष शोकादि) द्वन्द्वों से अतीत, ईर्षा से रहित (निर्वैर बुद्धि वाला) लाभ अलाभ में सम होकर, (शरीर स्थिति के निमित्त मात्र कर्मों को अकर्ता दृष्टि से) करता हुआ भी, बन्धन को नहीं प्राप्त होता है (क्योंकि ज्ञान से कर्म तो दग्ध हो चुके) ॥ दृढ़ राग रहित, ज्ञान में स्थित चित्त वाले, धर्माधर्म बन्धन से मुक्त, ईश्वर निमित्त यज्ञ के लिये आचरण करने वाले पुरुष के, संपूर्ण कर्म (कल्पित के असत्य निश्चय रूप बोध से, अधिष्ठान ब्रह्म में) अत्यन्त लीन हो जाते हैं (फिर जन्म लेने योग्य नहीं रह सकते हैं) ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

(कर्म कैसे प्रविलीन होते हैं सो कहते हैं:—) काष्ठ का हस्त रूप स्रुवा भी ब्रह्म है, हवन का द्रव्य भी ब्रह्म

है, ब्रह्मरूप अग्नि में, ब्रह्मरूप कर्ता ने होम किया है ब्रह्म रूप कर्म में समाधि वाले उस पुरुष को, प्राप्त होने योग्य, ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

और दूसरे योगी, देवताओं की उपासना रूप यज्ञ को ही भले प्रकार करते हैं, अन्य ज्ञानीजन, ब्रह्म रूप अग्नि में (अध्यस्त सर्व उपाधि की आहुति रूप) यज्ञ के द्वारा, यज्ञ को (सर्वत्र आत्म भाव से) होम करते हैं यानी अभेद करते हैं (सोपाधिक आत्मा का निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप से दर्शन ही होम है उसे करते हैं) ॥ २५ ॥

अन्य योगी, श्रोत्रादिक इन्द्रियों को, यथोचित निग्रह रूप अग्नि में होम करते हैं, दूसरे योगी शब्दादि विषयों को, इन्द्रिय रूपी अग्नि में (शास्त्र के अनुसार भोगरूप) होम करते हैं ॥ दूसरे योगी, सर्व इन्द्रियों के कर्मों को और प्राण के कर्मों को, ज्ञान से प्रकाशित, धारणा ध्यान समाधि रूप योग की अग्नि में, होम करते हैं (अर्थात् सर्व व्यापार का निरोध करके आत्मा में चित्त को समाधान करते हैं) ॥ २६ ॥ २७ ॥

कई अन्य पुरुष, द्रव्य रूप यज्ञ वाले हैं (ईश्वरार्पण बुद्धि से द्रव्य का सत्पात्रों में, तीर्थों में, लोक उपकारार्थ व्यय करते हैं) तप रूप यज्ञ वाले हैं और अष्टांग योगानुष्ठान रूप यज्ञ करने वाले हैं और दूसरे कई सत्य

अहिंसादि तीक्ष्ण व्रत वाले, यत्न शील पुरुष, उपनिषद संहिता आदिक के यथा विधि पाठ रूप स्वाध्याय और शास्त्रार्थ के परिज्ञान रूपी ज्ञान यज्ञ के करने वाले हैं ॥ २८ ॥

और कोई, अपान वायु में प्राण वायु को होम करते हैं (पूरक प्राणायाम करते हैं) प्राण को अपान में होम करते हैं (रेचक करते हैं) प्राण अपान की गति को रोक कर (वाह्य कुम्भक अन्तः कुम्भक केवल कुम्भक रूप) प्राणायाम के परायण होते हैं ॥ दूसरे कोई, नियमित अहार करने वाले (हित मित, मेध्य ऐसा युक्ताहार करने वाले) प्राणों को प्राणों में होम करते हैं (अर्थात् स्वल्पाहारी होते हैं) यह सब ही, यज्ञों से नष्ट पाप हुए पुरुष, यज्ञ को जानने वाले हैं ॥ हे कुरु श्रेष्ठ अर्जुन, यथोक्त यज्ञों को करके शेष काल में यथा विधि ग्रहण किया हुआ अन्न अमृत है उसको खाने वाले, (चित्त शुद्धि से ज्ञान द्वारा) सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, यज्ञ न करने वाले को यह लोक भी नहीं है (ऐसे जन संसार में ही अनादर से स्वार्थी भ्रष्टाचारी धर्मघातक कहलाते हैं) अन्य परलोक (शुभ योनि की प्राप्ति स्वर्गादिक) कहाँ से प्राप्त होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ, वेद में, विस्तार पूर्वक कहे

हैं, उन सबको कर्मों से उत्पन्न हुए जानों, इस प्रकार जान कर (चित्त शुद्धि द्वारा आत्मा के असंग अकर्ता पने का ज्ञान होकर) तू कर्म बन्धन से मुक्त होजावेगा ॥ हे परंतप, द्रव्यमय आदिक यज्ञों से, ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है, हे पार्थ, सब कर्म ज्ञान में, पूर्ण परिसमाप्त हो जाते हैं (अर्थात् ज्ञानाग्नि में दग्ध होकर असत्य निश्चित होकर ब्रह्म लीन होजाते हैं) ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

(आत्म ज्ञान प्राप्ति के उपाय को कहते हैं :—) साष्टाङ्ग प्रणाम से, पुनः पुनः प्रश्न करने से और (कायक वाचक मानसिक) सेवा से उस परमात्म तत्व के ज्ञान को, अपरोक्ष जानों, वे आत्मानुभवी, शास्त्रज्ञ जन तुझको ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ (कोई पुरुष ज्ञानी होते हुए भी, यथावत् तत्वदर्शी नहीं होते हैं, उनका उपदेश किया हुआ ज्ञान मोक्ष रूपी कार्य में समर्थ नहीं होता है इस वास्ते ज्ञानी के साथ तत्वदर्शी कहा) ॥ जिस ज्ञान को जान कर, तू फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा, हे अर्जुन, जिस ज्ञान से, संपूर्ण प्राणियों को साक्षात् अन्तरात्मा में, उसके पीछे, मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा में,) अभिन्न अखण्ड एक रूप से,) साक्षात्कार करेगा (क्षेत्रज्ञ और ईश्वर का अभेद जो उपनिषद प्रसिद्ध है उसको देखेगा) ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

(ज्ञान का माहात्म्य कहते हैं :—)

और जो तू, सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञान रूप नौका द्वारा, सर्व पाप रूप संसार को, सम्यक् तर जावेगा ॥ ३६ ॥

हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि, ईंधन को भस्म कर देती है, तैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि, संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है ॥ ३७ ॥

इस संसार में, निश्चय करके, ज्ञान के सदृश पवित्र अन्य कुछ नहीं है, उस ज्ञान को, विद्वान, समय पाकर, अपने आप, योग से सम्यक् शुद्धान्तःकरण वाला होकर, आत्मा में, अपरोक्षानुभव करता है ॥ ३८ ॥

(प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा तो बनावटी भी हो सकते हैं जिससे ज्ञान न भी हो सके परन्तु जिस उपाय से अवश्य ज्ञान होता ही है सो उपाय कहते हैं कि परमात्मा, गुरु, और शास्त्र में) श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को पाता है (विना श्रद्धा के ज्ञान में प्रवृत्ति नहीं होती, और हो भी तो बीच में ही छूट जाती है, इसलिये कहते हैं कि) ज्ञान में तत्पर हो (और चित्त उसी में रहे, बाहर न जावे इसलिये) सम्यक् इन्द्रियों के निग्रह वाला हो ऐसा पुरुष ज्ञान को पाता है, ज्ञान को प्राप्त होकर, शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त होता है ॥ (पापिष्ठ को संशय होते

हैं इसलिये संशय न करना यह कहते हैं :—) अज्ञानी और अश्रद्धालू तथा संशययुक्त रहने वाला पुरुष, विनाश को प्राप्त होता है, परन्तु, संशय युक्त रहने वाले पुरुष के लिये तो, न यह लोक है न परलोक है न सुख है (क्योंकि अज्ञानी का अज्ञान और अश्रद्धालू की अश्रद्धा तो, संभव है कभी निवृत्त भी हो जावे, परन्तु जिसका स्वभाव संशयात्मक है उसको कोई भी निवृत्त नहीं कर सकता है इस लिये वह नष्ट पुरुषार्थ होता है) ॥३९॥४०॥

हे धनंजय, परमार्थ दर्शन लक्षण वाले योग से जिस परमार्थ दर्शी ने, कर्मों का संन्यास कर दिया, उस, ज्ञान से नष्ट संशय वाले, परमात्म परायण पुरुष को, कर्म नही बाँधते हैं ॥ ४१ ॥

इसलिये, हृदय में स्थित, अज्ञान से उत्पन्न हुए, इस अपने संशय को (पाप होगा वा नहीं, जीतेंगे वा नहीं इत्यादि संशय को) ज्ञान रूपी तलवार से, काट कर (आत्मा अकर्ता निष्पाप है, स्वधर्म पालन से देह को पाप नहीं होता हैं, जीते भोग, मर कर स्वर्ग, अथवा ज्ञान होकर मोक्ष, होगा ऐसे जानकर) हे भारत, निष्काम कर्मयोग में सम्यक् स्थित हो उठ खड़ा हो (कायरता और संशय छोड़कर निष्काम स्वधर्म रूप युद्ध के लिये उठ खड़ा हो) ॥ ४२ ॥

इति कर्म संन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

इस पाँचवें अध्याय के पहले श्लोक में अर्जुन का यह प्रश्न है:—

अर्जुन ने कहाः- कर्मों के संन्यास की और पुनः योग की, हे कृष्ण, आप, प्रशंसा करते हो ("योग सन्यस्त कर्माणं" इत्यादि से संन्यास की और "योग मातिष्ठोत्तिष्ठ" से योग की स्तुति करते हो) संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में से जो श्रेष्ठ हो सो मुझ से, दृढ़ निश्चय पूर्वक कहो ॥ १ ॥

श्री भगवान ने कहाः-(ब्राह्मी स्थिति रूप) संन्यास और कर्म योग, दोनों ही कल्याणकारी हैं, तिन दोनों में से, कर्म संन्यास से कर्म योग (सुलभ) श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

यहाँ यह शङ्का है:— यदि अनात्म वेत्ता में कर्म संन्यास और कर्मानुष्ठान रूप कर्म योग बन सकते हों तो "कर्म संन्यास से कर्म योग श्रेष्ठ है" यह कथन बन सके, परन्तु परस्पर विरुद्ध होने से जब अज्ञानी में भी यह दोनों नहीं बन सकते, तब आत्मज्ञानी में तो संन्यास और योग दोनों का एक साथ होना असंभव है और संन्यास से योग की श्रेष्ठता का कथन भी अयुक्त

हैं, इस शङ्का का यह समाधान हैं कि गीता में संन्यास से, विना ज्ञान के कर्म त्याग मात्र अर्थ इष्ट नहीं हैं न चतुर्थ आश्रम रूप संन्यास इष्ट है क्योंकि अर्जुन कृष्ण दोनों स्वधर्म में तत्पर थे और युद्ध का प्रसंग था यहाँ आश्रम संन्यास का न कुछ काम था, और न भिक्षा भोगके मिष से अर्जुन को संन्यासाश्रम इष्ट था, किन्तु मोह कायरता के वश निन्दित भोजन भी स्वीकार है यह अभिप्राय था, इसलिये सम्यक् निरंतर ब्रह्मावस्थान पूर्वक काम्य कर्म त्याग ही, गीता का मुख्य संन्यास है, उसकी और साथ ही ईश्वरार्पण पूर्वक निष्काम कर्म योग की, स्तुति का कोई विरोध नहीं है यही भगवान् का आशय है और योग को सुलभ होने से संन्यास से श्रेष्ठ कहा ॥ इसलिये श्री भगवान फिर कहते हैं: —

हे महोबाहो अर्जुन, जो पुरुष, न द्वेष करता है न आकांक्षा करता है (लालसा नहीं करता) वह निष्काम कर्मयोगी, सदा ही संन्यासी जानने के योग्य हैं, क्योंकि वह, राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ (ज्ञानी होकर काम्य कर्म त्याग पूर्वक आत्मा में स्थित होकर) सुख पूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्य (आत्म ज्ञान रूप संन्यास) और निष्काम कर्म योग को (यानी अहंकार और फल की इच्छा रहित

ईश्वरार्थ विहित कर्म करने को,) अलग २ फल वाले, मूर्ख लोग बतलाते हैं न कि पण्डित ज्ञानी कहते हैं, एक साधन में भी, सम्यक् स्थित हुआ, दोनों साधनों के (साक्षात् ज्ञान होकर वा कर्म से चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान होकर) मोक्ष रूप फल को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

(यदि पूर्व योग भ्रष्ट हो तो, बिना निष्काम कर्म योग के अनुष्ठान के, ज्ञान पूर्वक ब्राह्मी स्थिति रूप संन्यास भी, सम्भव है, इसलिये "एक में भी स्थित हुआ" यह श्री भगवान ने कहा ॥ " ब्राह्मी स्थिति " "सांख्य" "संन्यास" "ज्ञान" सब शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं)

जो मोक्ष रूप स्थान ज्ञानियों (यानी ब्राह्मी स्थिति रूप संन्यास वालों) को प्राप्त होता है वही स्थान निष्काम कर्म योगियों को प्राप्त होता है (योग से चित्त शुद्ध होकर ज्ञान द्वारा मोक्षरूप स्थान प्राप्त होता है), मोक्ष रूप फल में जो ज्ञान और योग दोनों को एक जानता है वही जानता है॥ परन्तु हे महाबाहो अर्जुन, बिना कर्मयोगके,(पार्मार्थिक स्वरूप से स्थिति रूपी) संन्यास तो प्राप्त होना कठिन है, मननशील पुरुष निष्काम कर्म योग में लगा हुआ (चित्त शुद्धि से ज्ञान द्वारा) ब्रह्म को शीघ्र प्राप्त होता है ॥ ॥ ५ ॥ ६ ॥

निष्काम कर्म योग में लगा हुआ, अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरण वाला, विजित मन और जितेन्द्रिय, सर्व प्राणियों का आत्म स्वरूप है आत्मा जिसका, ऐसा पुरुष, लोक संग्रहार्थ करता हुआ भी, (पाप पुण्य से वा संसार बंधन से) लिप्त नहीं होता है ॥ ७ ॥

परमार्थ दर्शी पुरुष, समाहित हुआ हुआ, देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, स्वाँस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक खोलता हुआ मूँदता हुआ, भी, इन्द्रियाँ अपने २ विषयों में वर्त रही हैं, मैं कुछ नहीं करता हूँ (असंग आत्मा हूँ) इस प्रकार धारणा करता हुआ ही, मानता है ॥ ८ ॥ ९ ॥

(अब अज्ञानी के लिये कहते हैं कि:-) जो पुरुष तो, कर्मों को, ब्रह्म में समर्पण करके (कि मैं तो ईश्वरार्थ करता हूँ ऐसे) फलासक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की न्याईं, पाप से लिप्त नहीं होता है ॥ १० ॥

कर्म योगी, (ईश्वरार्थ ही) केवल इन्द्रियों से, केवल मन से, केवल बुद्धि से और केवल शरीर से भी (अर्थात् अपने कर्तृत्व अभिमान से रहित) फलासक्ति को छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

परमात्मा में युक्त हुआ मनुष्य, कर्म फल को त्याग कर, ब्राह्मी स्थिति वाली (मोक्ष रूप) शान्ति को प्राप्त होता है, असमाहित सकाम पुरुष, कामना के कारण, फल में आसक्त हुआ, वंधन को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

नवद्वार वाले नगर रूप देह में, न स्वयं करता हुवा और न कराता हुवा, (ज्ञानी) वशी अर्थात् निग्रहीत मन इन्द्रिय वाला, देह धारी पुरुष तो, ब्रह्म में सर्व कर्मों को (कर्म में अकर्म ज्ञान द्वारा) विवेकी मन से संन्यास करके आनंद पूर्वक स्थित रहता है ॥ प्रभु न तो भूत प्राणियों के कर्तापने को, न कर्मों को और न कर्मों के फल के संयोगको रचता है, परन्तु, ईश्वर का स्वभाव वर्त रहा है (अर्थात् अविद्या रूप माया ही वर्त रही है) ॥ विभु अर्थात् व्यापक परमात्मा, न किसी के पाप को, और न पुण्य को ही ग्रहण करता है, अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उस से प्राणी, भ्रान्त हो रहे हैं (कि मैं करता हूँ कराता हूँ ऐसे) ॥ परन्तु जिनका, वह आत्मा का अज्ञान, ज्ञान से, नष्ट हो गया, उनका ज्ञान, सूर्य के प्रकाश की न्याईं उस परमात्मा को स्पष्ट अनुभव कराता है ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

उस परमात्मा में बुद्धि वाले, उसमें मन वाले, उसमें निरंतर स्थिति वाले, उसमें परंगति वाले, ज्ञान से पाप

रहित हुए, आवागमन के अभाव को (यानी परमात्मा को) प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

(पूर्व दोनों श्लोकों में कहे हुए के अनुसार जिनके लक्षण हैं वे पण्डित तत्व को कैसे देखते हैं सो कहते हैं :—) ज्ञानी जन, विद्या और विनय युक्त (नम्र) ब्राह्मण में, गो, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी सम यानी अविक्रिय एक ब्रह्म दर्शी होते हैं ॥ (ऐसी समदृष्टि से वे दोषी नहीं होते हैं यह कहते हैं :—) जिन का मन सम ब्रह्म भाव में स्थित है उन्हों ने, इस जीवित अवस्था में, जन्म, जीत लिया, क्योंकि ब्रह्म (निर्गुण होने से) निर्दोष सम है (अर्थात् एक है) इस लिये वे जन ब्रह्म में स्थित हैं ॥ १८ ॥ १९ ॥

स्थिर बुद्धि वाला, विवेकी, ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्म में स्थित हुआ, इष्ट को प्राप्त होकर अत्यन्त हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त हो कर उद्वेग न करे ॥ २० ॥

बाहर के विषयों में आसक्ति रहित मन वाला पुरुष, अन्तःकरण में, जिस (संतोष स्वरूप) सुख को प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा से, ब्रह्म में समाहित अन्तःकरण वाला, अक्षय आनन्द को अनुभव करता है ॥ (तात्पर्य यह है कि इन्द्रियारामी पुरुष वैराग उपशम के सुख को भी नहीं पा सकता है तो निर्वाणसुख कहाँ मिले इसलिये

बाह्य विषयों में प्रीति हटाना योग्य है यह कहते हैं:—)
जो, विषयों के संयोग से जन्य, भोग हैं, वे दुःखों के ही
कारण हैं (अर्थात् दुःख जनक ही हैं) उनमें ज्ञानी नहीं
रमता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

(श्रेय मार्ग के विरोधी काम और क्रोध बड़े प्रयत्न
से निवृत्त करने योग्य हैं इस लिये कहते हैं :–) यहाँ जीते
जी ही, जो पुरुष, शरीर के छोड़ने से पहले, काम क्रोध
से उत्पन्न हुए वेग को, सहन कर सकता है, वह
समाहित है वह सुखी है ॥ २३ ॥

जो पुरुष अन्तर आत्मा में सुख वाला है (भूमा
अर्थात् व्यापक ब्रह्म ही सुख है अल्प अर्थात् विनाशी
पदार्थों में सुख नहीं है यह छान्दोग्य की श्रुति का अर्थ
भी प्रमाण है) जो अन्तरात्मा में क्रीड़ा वाला है
(आत्मरति आत्म क्रीड़ा आत्मानन्द वाला है, यह श्रुति
है) और जो अन्तर आत्मा के ही प्रकाश वाला है
(स्थूल प्रकाश से सूर्य तक का प्रकाशक आत्मा जिसका
स्वयं प्रकाश विज्ञान स्वरूप है, जिसके भान से सब का
भान है) वह ब्रह्म स्वरूप हुआ योगी, निष्प्रपंच ब्रह्म को
ही प्राप्त होता है ॥ नष्ट पाप और विनष्ट संशय, सर्व
प्राणियों के हित में प्रीति वाले (अर्थात् अहिंसक) और
निग्रहीत मन इन्द्रिय वाले ऋषि लोग (ब्रह्म ज्ञानी पुरुष)

निर्द्वैत परमानन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ कामक्रोध से रहित, विजित मन बुद्धि वाले, सम्यग्दर्शी, यत्नशील पुरुषों को, सब ओर से, (जीते हुए और मर कर भी) निर्दुःख आनन्द स्वरूप परं ब्रह्म ही, वर्तता है ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

बाह्य विषयों को, बाहर ही परित्याग करके, और चक्षु को, भ्रकुटी के मध्य में करके, और नासिका के मध्य में विचरने वाले प्राण अपान को सम करके जो निग्रहीत इन्द्रिय मन बुद्धि वाला, इच्छा, भय और क्रोध से रहित, मोक्ष परायण मुनि है, वह सदा मुक्त ही है ॥२७॥२८॥

यज्ञ तप के भोक्ता, सर्व लोक के महेश्वर, सर्व प्राणियों पर निष्प्रयोजन उपकार करता, ऐसे मुझ को, जान कर (कि वह सबका और मेरा आत्मा एक निर्वाण सम है) विद्वान् शान्ति को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

इति पंचमोऽध्यायः ॥

हरिःॐ तत् सद् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

"स्पर्शान् कृत्वा वहिर्बाह्यांश्चक्षु" इत्यादि सूत्र रूप से जो ध्यान को ज्ञान योग के प्रति, कर्म योगी के वास्ते अन्तरङ्ग साधन कहा उसी की व्याख्या रूप यह छठा अध्याय है ।

श्री भगवान बोले :—

जो पुरुष कर्म फल का आश्रय न करके, कर्तव्य (काम्य विहीन अग्निहोत्रादि) शास्त्र विहित नित्य कर्म को करता है, वह (फल त्यागी होने से) संन्यासी है और (कर्म करने से) योगी भी है न अग्नि रहित है न क्रिया रहित है, (बिना ज्ञान के, अग्नि और क्रिया के त्यागमात्र से, संन्यासी और योगी नहीं होता, किन्तु उभय भ्रष्ट होता है यह तात्पर्य्य है) ॥

हे अर्जुन, जिसको फल त्याग की दृष्टि से संन्यास कहते हैं उसको निष्काम कर्म की दृष्टि से तुम योग जानो, क्योंकि फल के संकल्प को ईश्वरार्थ त्याग किये हुए बिना कोई पुरुष योगी नहीं होता है ॥ १ ॥ २ ॥

निष्काम कर्म योग में आरूढ होने की इच्छा वाले मुनि के लिये, निष्काम कर्म करने को ही, योगारूढ होने में

कारण कहते हैं, उसी योगारूढ हुए पुरुष के लिये, (ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने में) शम अर्थात् मन इन्द्रियों के निरोध पूर्वक समाधि को ही, कारण कहते हैं ॥ ३ ॥

(कब योगारूढ होता है इस प्रश्नका यह उत्तर है:-) जब न तो इन्द्रियों के विषयों में, न कर्मों में ही, आसक्त होता है (यानी कर्तव्य बुद्धि को नहीं करता है) तब सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ कहलाता है ॥ ४ ॥

(जैसे जैसे निष्काम कर्म ईश्वरार्थ करता है वैसे वैसे चित्त शुद्ध होकर कर्मों से उपरामता होती जाती है और परमात्मा में चित्त की लग्न बढती जाती है और वह ज्ञानी होकर समाहित होता जाता है यही योगारूढ होना है, और मन के निरोध पूर्वक समाधि अभ्यासारूढ रहते २ ब्रह्म निष्ठा परिपक्क होजाती है, इस फल की प्राप्ति ही आत्मा का उद्धार है, परन्तु इसमें हमारा क्या सामर्थ्य है आपकी कृपा से क्षण भर में उद्धार हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता ऐसी शङ्का का यह समाधान है:—)

मनुष्य अपने पुरुषार्थ से, अपने आपको, संसार से बाहर निकाले, अपने आप को, अधोगति को प्राप्त न करे, क्योंकि आप ही तत्वज्ञ होकर, अपना मित्र है (बन्धन से छुड़ाने वाला है) और बिचार हीन आप ही अपना शत्रु है (भव सागर में डबोने वाला है) ॥ उस

मनुष्य का वह पुरुषार्थी जीवात्मा ही बन्धु है (रक्षक मित्र है) जिसने अपने पुरुषार्थ से, अपने जीव भाव को जीत लिया। अजित मन और इन्द्रिय वाले पुरुष का तो वह अपना कर्ता भोक्ता जीवात्मा ही, शत्रु की न्याईं, (संसार रूप से दुःखदाई) शत्रु होकर वर्तता है ॥ जितात्मा (मन और इन्द्रियों को जिसने वश में कर लिया ऐसे) और प्रशान्त (निर्विकार, रज तम रहित निरुद्ध चित्त वाले,) पुरुष को, शीत उष्ण सुख और दुःखों में और मान अपमान में भी, परमात्मा सम्यक् आत्म भाव से साक्षात् वर्तता है ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

शास्त्र के ज्ञान और अपरोक्ष अनुभव से तृप्त अन्तःकरण वाला, अविक्रिय स्वरूप में स्थित, सम्यक् जितेन्द्रिय, मिट्टी, पाषाण, और स्वर्ण में सम दृष्टि वाला, ऐसा योगी, समाहित कहलाता है ॥ ८ ॥

निष्प्रयोजन हितकारीजनों में मित्र, शत्रु, उदासीन, निर्पक्ष, द्वेषी और बन्धु गणों में तथा निर्दोष जनों और पापियों में भी, सम बुद्धि वाला (असंग होने से एक परमात्म दृष्टि वाला) पुरुष श्रेष्ठ होता है (अथवा जहाँ विमुच्यते पाठान्तर है वहाँ, मुक्त होता है या संसार बन्धन से अत्यंत छूट जाता है यह अर्थ स्वीकार कर लेना) ॥ ९ ॥

अब ध्यानाभ्यास को पुनः सविस्तार कथन करते हैं:—

योगी, निरन्तर, एकान्त स्थान में स्थित हुआ, अकेला (दूसरे के संग बिना) निरुद्ध चित्त और शरीर वाला, तृष्णा रहित और संग्रह रहित हुआ, अन्तःकरण को, परमात्मा में स्थित करे ॥ पवित्र देश में अथवा शुद्ध स्थान में, (गंगा तट पर अथवा शिवालय में अथवा पवित्र गृह की कोठरी में) अपने आसन को, न अति ऊँचा, न अति नीचा, सब से ऊपर वस्त्र, नीचे मृगचर्म और सब से नीचे कुशा इस प्रकार स्थिर स्थापन करके ॥ उस आसन पर बैठ कर निग्रहीत चित्त और इन्द्रियों की क्रियावाला, मनको एकाग्र करके, अन्तः करण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे ॥ शरीर, शिर और ग्रीवा को बराबर सीधा, अचल धारण किये हुए, स्थिर होकर, अपनी नाक की नोक को सम्यक् देखता हुआ, और दिशाओं को न देखता हुआ ॥ प्रशान्तात्मा (काम आलस्यादिक राजस तामस भावों से शान्त अन्तः करण वाला) भय से रहित, ब्रह्मचर्य के नियम में स्थित हुआ, मन को निग्रह करके, मुझ परमात्मामें चित्त वाला हुआ, मेरे ध्यान के आश्रय हुआ, समाहित होकर बैठे ॥ इस प्रकार सदा, अपने अन्तः करण को, परमात्मा में लगाये

हुए, निरुद्ध मन वाला, योगी, मुझ परत्मामा में सम्यक् स्थिति रूप, निष्प्रपञ्च परम शान्ति को प्राप्त होता है ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

हे अर्जुन, बहुत खाने वाले से योग (अभ्यास) नहीं होता है, अत्यन्त न खाने वाले से भी नहीं होता है, और अति सोने के स्वभाव वाले के लिये भी योग नहीं है, और अति जागनेवाले के लिये भी नहीं है ॥ यथोचित आहार वाले और व्यवहार वाले, कर्मों में नियमित चेष्टा वाले, यथायोग्य सोने जागने वाले, (योगी का) योगाभ्यास, दुःख नाशक होता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

जब निरुद्ध चित्त, आत्मा में ही स्थित होता है, तब, सब कामनाओं से तृष्णा रहित हुआ, समाहित कहलाता है ॥१८ ॥

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक, नहीं हिलता है वह उपमा, अपने आत्मा के योगाभ्यास में लगे हुए, योगी के निरुद्ध चित्त की, कही गई है ॥ जिस अवस्था में, योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त, आत्मा में निग्रहीत हो जाता है, जहाँ, अपनी सूक्ष्म आत्माकार वृत्ति से, आत्मा को साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करता हुआ, अपने शुद्ध ब्रह्माभिन्न आत्म स्वरूप में, संतुष्ट होता है ॥ जो अत्यन्त सुख

स्वरूप है, शुद्ध सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य है, इन्द्रियों का अविषय है, उसको, जिस अवस्था में अनुभव करता है, और यह योगी (उसमें) स्थित हुआ, आत्म स्वरूप से चलायमान नहीं होता है ॥ जिस आत्म लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक अन्य लाभ नहीं मानता है और जिसमें स्थित हुआ, बड़े शस्त्र निपातादि दुःख से भी नहीं विचल होता है (पुनः भेद भ्रम को नहीं प्राप्त होता है)॥ उस दुःख संबन्ध के वियोग वाली, अवस्था को, योग नाम से जानों, वह योग, खेद रहित चित्त से, निश्चय से अनुष्ठान करने योग्य है (निश्चय होना और अभ्यास में खेद न मानना यह दोनों ही, योगाभ्यास की सफलता के साधन हैं) ॥ १६ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

संकल्प से उत्पन्न हुई सब कामनाओं को, संपूर्ण त्याग कर, और विवेक युक्त मन से, इन्द्रियों के समूह को, सब ओर से ही, विशेष वशी करके ॥ धीरज से ग्रहण की हुई बुद्धि से, धीरे धीरे, चित्त को निरुद्ध करे, मन को सम्यक् साक्षि आत्मा में स्थित करके, (मुझ परमात्मा से भिन्न) अन्य कुछ चिन्तन न करे ॥ जिस जिस पदार्थ के निमित्त से, यह अस्थिर, चंचल मन, बाहर जाता है, उस उस से मन को हटा कर, स्व स्वरूप आत्मा में ही, यह मन, निरुद्ध करे ॥ क्योंकि प्रशान्त मन

वाले, निष्पाप, मोहादि क्लेश रूपी रज की शान्ति वाले, ब्रह्म स्वरूप ("ब्रह्मैवेदं सर्वं" इस निश्चय वाले) इस योगी को निरतिशय आनन्द प्राप्त होता है ॥ पाप रहित योगी, इस प्रकार सदा आत्मा को साक्षात् अनुभव करता हुआ, सुख पूर्वक, ब्रह्म साक्षात्कार के अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

(अब योग का जो फल है ब्रह्मैकत्व दर्शन, जो संसार निवृत्ति का कारण है उसको कहते हैः—) समाहित अन्तःकरण वाला, सर्वत्र एक ब्रह्म निर्विशेष जानने वाला आत्मा को सब प्राणियों में अधिष्ठान रूप से स्थित और सर्व प्राणियों को आत्मा में अध्यस्त (अथवा घटाकाशों के महाकाश में अभेद की न्याईं) देखता है ॥ जो पुरुष मुझ को सर्वत्र (पट में तन्तु की न्याईं व्यापक वा अद्वितीय चिद सत्ता रूप) और सब को मुझ में (जल में नाना बुदबुदों की न्याईं) देखता है, उसको मैं परोक्ष (नष्ट की न्याईं भूला हुआ) नहीं रहता हूँ और वह मुझ से भिन्नवत् नष्ट नहीं होता (हम दोनों एक हैं) ॥ जो पुरुष एकता की भावना में दृढ़ होकर, सब प्राणियों में आत्मा रूप से स्थित मुझ परमात्मा को भजता है, वह योगी सर्व प्रकार से वर्तता हुआ भी, मुझ परब्रह्म में ही वर्तता है (इस लिये मुक्त है) ॥ हे अर्जुन, जो योगी,

सर्वत्र (यानी सब प्राणियों में) सुख को अथवा दुःख को अपने सदृश देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ २६ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अर्जुन ने कहा :—हे मधुसूदन, जिस योग को (अर्थात् ब्रह्म निष्ठा को) आपने सम भाव (एकत्व दृष्टि से) कहा है, चंचल मन होने से, मैं, इस योग रूप निष्ठा की दृढ स्थिरता को नहीं अनुभव करता हूं ॥ ३३ ॥

क्योंकि हे कृष्ण, मन चंचल है, अत्यन्त मथन करने वाला, बलवान और दृढ (पुष्ट) है, (इसवास्ते) उसका निरुद्ध करना मैं वायु के निग्रहवत् अत्यन्त कठिन मानता हूँ ॥ ३४ ॥

श्री भगवान बोले :—हे महाबाहो अर्जुन, मन कठिनता से निग्रह होने वाला है चंचल है इस में संदेह नहीं, परन्तु हे कुन्तिपुत्र, अभ्यास से और वैराग से निरुद्ध होता है ॥ अन्तःकरण जिसके वश में नहीं है उस पुरुष से, योग प्राप्त होना कठिन है परन्तु निग्रहीत अन्तःकरण वाले, यत्नशील पुरुष से (लय विक्षेप कषाय और रसास्वाद इन चारों विघ्नों की निवृत्ति पूर्वक दीर्घ काल निरन्तर सत्कार पूर्वक अनुष्ठान रूप) उपाय से प्राप्त हो सकता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने कहा :—सम्यक् यत्न से रहित, श्रद्धा

युक्त, योगानुष्ठान से विचलित मन वाला, योग की सम्यक् सफलता अर्थात् ब्राह्मी स्थिति को न प्राप्त होकर, हे कृष्ण, किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ क्या हे महाबाहो श्री भगवान, वह उभय भ्रष्ट हुआ (कर्म और ज्ञान अथवा इस लोक और परलोक दोनों से गिरा हुआ) आश्रय रहित होकर, ब्रह्म के मार्ग में अत्यन्त मोहित हुआ, फटे हुवे बादलों की न्याईं नष्ट होजाता है ? ॥ हे कृष्ण, आप इस मेरे संशय को सपूर्ण छेदन कर सकते हो, क्योंकि आप से दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला, विद्यमान नहीं है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

श्री भगवान ने कहा :— हे पार्थ, उसका विनाश न यहाँ होता है न वहाँ होता है क्योंकि हे तात् ! कोई भी कल्याणार्थ कर्म कर्ता, दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

योग भ्रष्ट पुरुष, पुण्यवानों के (चन्द्रलोक स्वर्गादि) लोकों को प्राप्त होकर, बहुत बर्षों तक, निवास करके, पवित्र आचार वाले श्रीमानों के गृह में जन्म लेता है ॥ अथवा (यदि निष्काम विरक्त रहा हो सकाम न रहा हो परन्तु किसी रोगादि प्रतिवंधक के वश से उसका योग सिद्ध न होसका हो तो) बुद्धिमान योगियों के कुल में ही जन्म लेता है परन्तु संसार में जो ऐसा जन्म है यह

अत्यन्त दुर्लभ ही हैं ॥ वहां, उस पूर्व देह वाले, बुद्धि के संयोग को (यानी योगाभ्यास ब्रह्मविचारादिक को) प्राप्त होता है, और हे कुरुनन्दन, उससे अधिक प्रयत्न, मोक्ष के लिये करता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

क्योंकि वह योग भ्रष्ट पुरुष, उस ही पूर्व अभ्यास से विवश होकर भी, अधिक अभ्यास के लिये खींच लिया जाता है, योग का (अर्थात् ब्राह्मी स्थिति का) जिज्ञासु भी, वेद के कर्मकाण्ड को उलंघन कर जाता है (तब योगी का क्या कहना) ॥ ४४ ॥

प्रयत्न से अभ्यासी योगी तो, पापों से सम्यक् शुद्ध होकर, अनेक जन्मों के अभ्यास से ज्ञानी होकर, तुरन्त पीछे, परमात्म पद मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ब्रह्मनिष्ठ योगी, तपस्वी जनों से बड़ा है, शास्त्रों के जानने वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है, वह योगी, कर्मियों से भी अधिक है इस वास्ते हे अर्जुन, तू तो ब्रह्म निष्ठ योगी हो॥४५॥४६॥

सब योगियों में भी, अन्तरात्मा को मुझ में लीन करके, श्रद्धावान जो योगी, मुझको भजता है, वह योगी मुझे अत्यन्त युक्त (परम श्रेष्ठ अभ्यासी समाहित चित्त वाला) सम्मत है ॥ ४७ ॥

इति आत्म संयम योगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

—*—

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

श्री भगवान ने कहाः—हे पार्थ, मेरे में आसक्त मन वाला हुआ, मेरे आश्रय, योगाभ्यास करता हुआ, मुझ को, जिस प्रकार संशय रहित होकर संपूर्ण (वासुदेव रूप ही यह सब है ऐसे) तू जानेगा, उसको सुन ॥ १ ॥

मैं तुझे, इस श्रौत ज्ञान को, अपरोक्षानुभव सहित संपूर्ण कहूंगा, जिसको जानकर, इस संसार में, फिर अन्य जानने योग्य कुछ नहीं बचता है (अर्थात् सब ही जाना जाता है कि एक अद्वितीय ब्रह्म है अन्य कुछ नहीं है) ॥ २ ॥

सहस्रों मनुष्यों में, कोई ही मनुष्य, चित्त की शुद्धि के लिये प्रयत्न करता है और यत्न करते हुए ऐसे सिद्धों में से भी कोई ही मुझे स्वरूप से जानता है ॥ ३ ॥

भूमि (तन्मात्र) जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार (अर्थात् अविद्या संयुक्त अव्यक्त) भी, ऐसे आठ प्रकार से, विभाग की हुई यह मेरी प्रकृति है॥४॥

यह तो अपरा (जड़ प्रकृति है) हे महाबाहो अर्जुन, इससे अन्य मेरी जीव स्वरूप परा प्रकृति जानो, जिससे यह जगत धारण होता है ॥ ५ ॥

सर्व प्राणि, इन दोनों मिली हुई प्रकृतियों से, मृद्ध घटवत्) उत्पत्ति वाले हैं और मैं सर्वेश्वर संपूर्ण जगत का (इन दोनों प्रकृति रूप उपादान कारण द्वारा सब का) उत्पत्ति और प्रलय रूप हूँ ॥ ६ ॥

हे धनंजय अर्जुन, मुझ से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है, यह सब मुझ में, सूत्र में (सूत्र की) मणियों की न्याईं प्रोया हुवा है ॥ (जैसे सूत्र और काष्ठ की मणियाँ सब काष्ठ है काष्ठ से भिन्न नहीं है परन्तु सूत्र और मणियों के संयोग का ही एक नाम माला है इसी प्रकार, भगवान परमेश्वर रूप सब प्राणिमात्र, और ईश्वर, मिल कर, एक परमात्मा से भिन्न नहीं है और वही जगत रूप कहलाता है) ॥ ७ ॥

हे कुन्ती के पुत्र, अर्जुन. मैं जलों में (व्याप्त) रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में (व्यापक) प्रकाश हूँ, सर्व वेदों में सार कारण प्रणव हूँ, आकाश में शब्द रूप और पुरुषों में मैं पुरुषार्थ रूप हूँ ॥ ८ ॥

और पृथवी में पवित्र गन्ध (रूप से अनुगत) हूँ, अग्नि में मैं तेज हूँ, सब प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वी गणों में तप रूप भी हूँ ॥ (मुझ कारण रूप तन्मात्र सत्ता में वह वह कार्य रूप पृथवी भूतादिक अध्यस्त हैं यह अर्थ है) ॥ ६ ॥

हे पार्थ, सर्व प्राणियों का सनातन कारण मुझ को जानों, बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजवानों का तेज, मैं हूँ ॥ हे भरत श्रेष्ठ, बलवानों का, काम और राग से रहित (विशुद्ध सात्विक) बल मैं हूँ, प्राणियों में धर्म के अनुसार काम, मैं हूँ ॥ १० ॥ ११ ॥

और जो भी, सात्विक राजस और तामस भाव (भावना और पदार्थ) हैं, उनको, मुझ परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसे जानो, मैं उनमें (फँसा हुआ, संसारियों की न्याईं) नहीं हूं (या, कारण कार्य भाव से मैं, सत्य नहीं हूँ क्योंकि कार्य कारणता अध्यस्त है और वह सत्व रूपता भी मेरी विभूति विशेष है) वे मुझ में अध्यस्त हैं ॥ १२ ॥

इन सात्विक राजस तामस तीनों गुणों वाले, राग द्वेषादिक भावों से, मोहित हुआ, यह सब जगत इन से परे, मुझ अविनाशी को नहीं जानता है ॥ १३ ॥

(इसमें कारण कहते हैं:—) क्योंकि, यह, ईश्वरी, तीनों गुणों वाली, मेरी माया, तरने को कठिन है, (परन्तु) जो मुझको ही (सर्व धर्म परित्याग करके सावधानता से, स्व स्वरूप से नित्य निरन्तर) भजते हैं अथवा शरणागत हुए चिन्तन करते हैं, वे भक्त, मेरी माया को तरते हैं ॥ १४ ॥

मुझको, पापकारी, अज्ञानी, माया से अपहरण हुवा है ज्ञान जिन्हों का, तथा असुर स्वभाव धारण किया है जिन्होंने, ऐसे नीच जन, नहीं भजते हैं ॥ १५ ॥

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन, चार प्रकार के, उत्तम कर्म करने वाले जन, मुझको भजते हैं, आर्त्त अर्थात् पीड़ित, अर्थार्थी अर्थात् धन की इच्छा वाले, जिज्ञासू अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को जानने की इच्छा वाले और जो ज्ञानी हैं सो ॥ १६ ॥

उन्हों में, ज्ञानी, सदा समाहित, एक अद्वितीय परमात्मा को ही भजने वाला (अन्य भिन्न कुछ न मानने वाला) श्रेष्ठ है, क्योंकि मैं ज्ञानी को (उसका आत्मा होने से) अत्यन्त प्रिय हूँ और वह (मेरा आत्मा होने से) मेरा प्यारा है ॥ १७ ॥

वे सब (भक्त) ही श्रेष्ठ हैं, ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही निश्चित है, क्योंकि वह समाहित अन्तःकरण वाला पुरुष अत्युत्तम गति रूप मुझ परमात्मा में ही, सब प्रकार से स्थित है ॥ १८

बहुत से जन्मों में, अन्त के जन्म में, ज्ञानवान हो कर, मुझको प्राप्त होता है, इस निश्चय से कि सर्व वासुदेव है, (परन्तु) वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

उन उन कामनाओं से जिनके ज्ञान नष्ट होगये हैं,

(वे जन) अपनी अपनी प्रकृति के वश हुए, उस उस नियम को धारण किये हुए, अन्य देवताओं को भजते हैं॥२०॥

जो जो भक्त, जिस जिस, देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजन करने की इच्छा करता है, उस उस देवता वाली, उस अचल श्रद्धा को, मैं ही स्थिर करता हूं ॥ २१ ॥

वह पुरुष, उस श्रद्धा सहित हुआ, उस देवता के पूजने की चेष्टा करता है, और उस देवता द्वारा मेरे ही नियत किये हुए, उन भोगों को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

परन्तु, उन अल्प बुद्धि वालों को, वह फल, नाशमान ही, मिलता है, देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, (परन्तु) मेरे भक्त अवश्य मुझको प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

बुद्धिहीन पुरुष, मुझ श्रेष्ठ अविनाशी के परमात्म भाव को न जानते हुए, मुझ अव्यक्त (निराकार) को, व्यक्ति भाव को प्राप्त हुवा (वसुदेव देवकी के गृह में उत्पन्न हुआ साधारण शरीर धारी) मानते हैं ॥ (इसमें क्या हेतु है सो कहते है :—) योग माया से सम्यक् आच्छादित हुआ, मैं सब को, अपरोक्ष साक्षात्कार, नहीं होता हूं, यह अविवेकी लोक (मनुष्य संसार) मुझको जन्म रहित, अविनाशी नहीं जानता है ॥ २४ ॥ २५ ॥

हे अर्जुन, मैं, जो मर चुके, जो वर्तमान हैं और जो

आगे होने वाले प्राणी हैं, उनको जानता हूँ, परन्तु मुझ को कोई नहीं जानता है ॥ २६ ॥

हे भारत, हे परंतप, सृष्टि काल में (प्रलय समय बीतने पर) इच्छा द्वेष से उत्पन्न हुए (सुख दुःखादि) द्वन्द्वरूप अविवेक द्वारा, सब प्राणी, सम्यक् अज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

परन्तु जिन पुण्य कर्म करने वाले जनों के पाप नष्ट होगये हैं, वे (सुखदुःखादि) द्वन्द्वों के मोह से मुक्त हुए हुए दृढव्रत धार कर (दृढ निश्चय से कि यही परमार्थ तत्व है अन्य नहीं है ऐसा जान कर) मुझ परमात्मा को भजते हैं ॥ २८ ॥

जो पुरुष, जरा मरण से मुक्त होने के लिये, मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे जन संपूर्ण कर्म को, (तथा चित्त शुद्ध होकर) संपूर्ण आत्म ज्ञान को, और उस ब्रह्म को यथावत् जानते हैं ॥ २९ ॥

जो पुरुष मुझको, अधिभूत के सहित (स्थूल प्रपंच के सहित) अधिदैव के सहित (सूक्ष्म प्रपंच के सहित) और सब यज्ञ का स्वामी, जानते हैं, (कि सब वासुदेव है) वे समाहित चित्त वाले, मरण काल में भी, मुझको ही जानते हैं ॥ ३० ॥

इति ज्ञान विज्ञान योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

हरि ॐ तत् सत् श्री परमात्मने नमः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

अर्जुन ने पूछा :—हे पुरुषोत्तम, (१) वह ब्रह्म क्या है, (२) अध्यात्म क्या है, (३) कर्म क्या है, (४) अधिभूत किसको कहते हैं, और (५) अधिदैव कौन कहलाता है ? ॥ १ ॥

और हे मधुसूदन, (६) यहां अधियज्ञ कौन है, इस देह में किस प्रकार (विद्यमान) हैं, (७) और निग्रहीत मन वाले पुरुषों से, आप मरण काल में कैसे जानने योग्य हो ॥ २ ॥

श्री भगवान ने कहा :—(१) परम अक्षर (यद्यपि माया आदिक को भी कोई २ अक्षर मानते हैं परन्तु माया परमात्म ज्ञान होने पर नहीं रहती इसलिये वह परमात्मा) ब्रह्म है, और (२) उसका स्वभाव, जीवात्मा, अध्यात्म कहलाता है, (३) प्राणियों के नाना भाव को उत्पन्न करने वाला, जो यज्ञादिक में द्रव्यादिक का त्याग रूप शुभ क्रिया है उसका नाम कर्म है ॥ ३ ॥

(४) नाशमान पदार्थ सब, अधिभूत है, (तेजोमय, समष्टि, लिङ्ग यानी सूक्ष्म प्रपंच का अभिमानी हिरण्यगर्भ जो सब इन्द्रियों के ऊपर अनुग्रह करने

वाला स्वामी है सो) (५) पुरुष, अधिदैव है, हे देह-धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन, (६) इस देह में, मैं विष्णु रूप भगवान ही; यज्ञ का अभिमानी देवता, अधियज्ञ हूं ॥ और इस में संदेह नहीं है कि (७) अन्त काल में, मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़ कर, जो पुरुष गमन करता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ ५ ॥

और हे कुन्तिपुत्र, अर्जुन, जिस जिस भाव को भी स्मरण करता हुआ, मरण समय, शरीर को छोड़ता है, सदा उस भाव की दृढ वासना युक्त हुवा, रहने से, उस उस भाव को ही प्राप्त होता है ॥ इस वास्ते (अपने कल्याण के लिये अन्य भाव की दृढ वासना के निवारणार्थ) सर्व काल में (पवित्र अपवित्र, शयन करते कार्य करते भोग करते, चलते बैठे) मुझ परमात्मा का स्मरण कर और स्वधर्म पालन युद्ध को भी कर, मुझ में अर्पित मन बुद्धि वाला होकर निःसन्देह मुझको ही तू प्राप्त होगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

हे पार्थ, अभ्यास योग से युक्त, अन्यत्र न जाने वाले चित्त से, निरन्तर परमात्म चिन्तन करता हुआ पुरुष, परमात्मा रूप प्रकाशमान (अलौकिक ज्ञान स्वरूप) पुरुष को ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ, अनादि अनुशासन करता, सूक्ष्म अणु आदिक से भी सूक्ष्म अर्थात् अधिष्ठान आत्मा अति सूक्ष्म, सब के धारण करने वाला, अचिन्त्य रूप, सूर्य के सदृश प्रकाशमान (परन्तु वह प्रकृति रूप तम के अन्तरगत है इस लिये) तम से परे, दूर अर्थात् माया अविद्या रहित, ऐसे परमात्मा को जो पुरुष निरन्तर स्मरण करता है ॥ वह पुरुष, मरण काल में अचल मन से, भक्ति से युक्त, और दृढाभ्यास के योग बल से भी, भ्रकुटि के मध्य में, प्राणों को सम्यक् स्थापन करके, उस परम दिव्य परमात्म पुरुष को ही प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ १० ॥

जिस अक्षर परमात्मा का, वेदार्थ के ज्ञाता जन कथन करते हैं, जिसमें, वीतराग, यत्नशील जन प्रवेश करते हैं, जिसकी इच्छा से योगी, ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते हैं, उस अक्षर ब्रह्म पद को संक्षेप से, तुझ से मैं कहूंगा ॥ ११ ॥

(अब उस ब्रह्म प्राप्ति के लिये प्रणव की धारणा जन्य, दृढ अभ्यास के बल से, मरण समय की स्थिति को, और उसके मोक्ष फल को कहते हैं :—)

सर्व इन्द्रियों के द्वारों को, बाह्य विषयों के चिन्तन से, हटाकर, और मन को हृदय में निरुद्ध करके, (वासना रहित स्थिर करके) मस्तक में अपने प्राणों को

स्थापन करके अर्थात् कुंभक करके, योग धारणा में, सब ओर से स्थित होकर (दृढ सजातीय आत्माकार वृत्ति के प्रवाह युक्त होकर) ॥ ओम् इस एक अक्षर रूप, ब्रह्म के नाम को उच्चारण करता हुआ, मुझ परमात्मा का स्मरण करता हुआ, जो पुरुष, देह को त्याग कर जाता है (मरता है) वह पुरुष परमात्म प्राप्ति रूप मोक्ष पद को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

हे पार्थ, जो पुरुष (एक ब्रह्माकार वृत्ति रूप) अनन्य चित्त वाला, सदा ही निरन्तर मुझ को स्मरण करता है, उस नित्य समाहित योगी को मैं परमात्मा, सुख से सहज साक्षात्कार होता हूँ ॥ १४ ॥

महात्मा लोग (अपने आत्मा रूप) मुझ परमात्मा को प्राप्त होकर (स्व स्वरूप अनुभव करके) परम संसिद्धि रूप मोक्ष को प्राप्त हुये, दुःख के स्थान, अनित्य, विनाशी, पुनर्जन्म को (आवागमन रूप संसार को) नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

हे अर्जुन, ब्रह्म लोक सहित सब लोक पुनरागमन वाले हैं, परन्तु हे कुन्तिपुत्र, मुझ को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं रहता है ॥ १६ ॥

जिस ब्रह्मा के दिन को सहस्र युग वाला और रात को सहस्र युग वाली, जो योगी, जानते हैं, वे दिन रात

को (अर्थात् काल के तत्व को) जानने वाले हैं ॥१७॥

ब्रह्मा के दिन के निकलने पर, अव्यक्त से, सब मूर्तियाँ प्रकट उत्पन्न हो जाती हैं, और रात्री के आने पर, उसी अव्यक्त नामक ब्रह्मा में, लय हो जाती हैं ॥ हे पार्थ, वही, यह प्राणियों का समूदाय, (जड़ चेतन रूप सब) उत्पन्न हो हो कर, रात्रि आने पर लीन होता रहता है, और विवश हुआ, दिन के उदय होने के समय उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥ १९ ॥

परन्तु उस अनित्य अव्यक्त से परे, जो, दूसरा सनातन अव्यक्त (स्वरूप भाव) हैं, वह सर्व प्राणियों के नाश होने पर विनाश को नहीं प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अव्यक्त, अक्षर इस नाम से कहा गया है, उसको परम पद कहते हैं जिसको प्राप्त होकर मनुष्य लौट कर नहीं आते हैं, वह मेरा परमात्म स्वरूप है ॥ यानी सबसे उत्कृष्ट मोक्ष रूप स्थान है ॥ २१ ॥

और हे पार्थ, वह परम पुरुष है परन्तु (आत्म विषयनी) अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है, सर्व प्राणी जिसके अन्तर स्थित हैं जिससे यह सब प्रपंच व्याप्त हो रहा है ॥ (जैसे मृद्व से घट, तन्तु से पट, व्याप्त होता है ऐसे ही अस्ति भाति प्रिय परमात्मा से सब नाम रूपात्मक विश्व व्याप्त हो रहा है) ॥ २२ ॥

(पूर्व, ब्रह्मा के दिन रात्री, उत्पत्ति प्रलय वाले, पुनरागमन रूप काल का वर्णन किया, अब फिर उसको कहते हैं और अनावृत्ति के काल को भी कहते हैं :—)

और जिस काल में कर्मिष्ठ योगीजन मर कर पुनरागमन को, और मोक्ष को भी प्राप्त होते हैं उस काल को, हे भरत श्रेष्ठ, मैं तुम से कहूँगा ॥ २३ ॥

(मरने पर) प्रकाशमान अग्नि के देवता, दिन के देवता, शुक्लपक्ष के देवता, षट्मास उत्तरायण के देवता, इन देव गणों के उस काल रूप मार्ग में, मरे हुए ब्रह्मोपासक योगी जन, ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ (क्रम से देवताओं द्वारा अपने अपने लोक से ले जाये हुये ब्रह्म-लोक को प्राप्त होते हैं वहाँ ब्रह्मा के उपदेश से ज्ञान होकर मुक्त हो जाते हैं यह अर्चिरादि मार्ग वालों की क्रम मुक्ति कही, यह काल वा सृतिगति रूप मार्ग, श्री भगवान ने कर्मिष्ठ जनों अथवा ब्रह्मा के उपासकों के लिये कहा) ॥ २४ ॥

(मरने पर) धूम के अभिमानी देवता, रात्रि के देवता, कृष्ण पक्ष और षट् मास दक्षिणायन के देवताओं द्वारा, उस काल वाले मार्ग में (गमन शील) योगी चन्द्रमा के प्रकाशमान लोक को प्राप्त होकर (स्वर्ग सुख भोग कर) पीछे संसार में लौट आता है ॥ यह शुक्ल और

कृष्ण रूप दोनों मार्ग जगत के सनातन ही माने गये हैं, एक शुक्ल मार्ग से अनावृत्ति (क्रम मोक्ष) को प्राप्त होता है और दूसरे कृष्ण मार्ग से संसार में लौट आता है (जो वैदिक यज्ञ करता वा ब्रह्मा का उपासक वा निर्गुण ब्रह्म का उपासक हैं ज्ञानी नहीं है वह शुक्ल मार्ग को जाता है और उससे नीचे के पुरुषार्थ वाला पुरुष कृष्ण मार्ग को प्राप्त होता है) ॥ २५ ॥ २६ ॥

हे पार्थ, इन दोनों मार्गों को जानता हुआ (तदनुसार पुरुषार्थ करता हुआ) कोई पुरुष, भ्रम को नहीं प्राप्त होता है, इसलिये हे अर्जुन, तू सर्व काल में, ब्रह्मनिष्ठा रूप योग में समाहित हो (यही सर्वोत्कृष्ट मोक्ष मार्ग है)॥ वेदों में, यज्ञों में, तप रूप क्रियाओं में और दान की क्रियाओं में, जो पुण्य रूप फल कहा है, इस योग के सूक्ष्म गुह्य तत्व को जान कर, उस सब फल को, योगी उलंघन कर जाता है और आदि कारणों का कारण जो परमात्मा रूप स्थान है उसको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥ इत्योम् ॥

इति अक्षर ब्रह्म योगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ नवमोऽध्यायः ॥

श्री भगवान ने कहाः—तुझ दोष दर्शन से रहित पुरुष के प्रति, मैं यह अत्यन्त गुह्य (सिवाय भक्त, शिष्य अथवा पुत्र के अन्य को न कहने योग्य) अपरोक्ष अनुभव सहित शास्त्रीय तत्व ज्ञान को, कहता हूं, जिसको जान कर तू अशुभ संसार से छूट जावेगा ॥ १ ॥

यह ज्ञान, राजाओं का ज्ञान और राजाओं का गुह्य है (क्योंकि पहले सब धर्मात्मा क्षत्रिय राजा होते थे, जो अवतारों की न्याई अधिकार में लोक संग्रहार्थ वर्त कर, सब प्रजा को धर्मात्मा बनाते थे, इसलिये वे ज्ञान के मुख्य अधिकारी होते थे, इसलिये श्री भगवान ने ऐसा कहा अथवा यह दूसरा अर्थ कर लेना कि यह ज्ञान विद्याओं का राजा है और गोपनीय तत्वों का राजा है यानी सर्व श्रेष्ठ है) पवित्र है और उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव रूप है (स्वर्गादि वत् परोक्ष नहीं है) धर्म रूप है, साधना करने को अत्यन्त सुख पूर्वक है अर्थात् सुगम है (और नित्य परमात्म पद दायक होने से) अविनाशी है ॥ २ ॥

हे परंतप अर्जुन, इस धर्म की श्रद्धा से रहित पुरुष, मुझ परमात्मा को न प्राप्त होकर, मृत्यु के संसार चक्र में, भ्रमते फिरते हैं ॥ ३ ॥

मुझ (इन्द्रियों के अविषय,) आकार रहित सत्ता स्वरूप से, यह सब जगत व्याप्त हो रहा है (जैसे स्वप्न दृश्य अपने द्रष्टा से व्याप्त रहता है तद्वत्) सब प्राणी मुझ में स्थित हैं (जैसे नाना घटाकाश महाकाश में होते हैं तद्वत्) और मैं, उनमें, (कारागार में बन्दी जनों की न्याईं वा घट में अन्न की न्याईं आश्रय होकर) स्थित नहीं हूं ॥ ४ ॥

और प्राणी भी मुझ में भिन्न स्थिति वाले नहीं हैं (जैसे स्वप्न के प्राणी, द्रष्टा में उससे भिन्न होकर स्थित नहीं होते तद्वत्) मेरे ईश्वरी सामर्थ्य (मायिक बल) को देखो, मैं प्राणियों को धारण करता हूं (जैसे जल बुदबुदों को धारण करता है तद्वत्) और भूतों में स्थित नहीं हूं (यानी आधीन नहीं हूं), मेरा आत्मा प्राणि मात्र को उत्पन्न करने वाला है (जड़ चेतन वर्ग को सत्ता स्फुर्ति प्रदान करने वाला है) ॥ ५ ॥

जैसे सब जगह जाने वाला महान वायु, सदा, (सर्वत्र व्यापक असंग अपने कारणरूप) आकाश में स्थित है (और असंग आकाश स्वकार्य वायु के धर्मों से लिप्त नहीं होता) तद्वत् सर्व प्राणी मुझ असंग परमात्मा में स्थित हैं ऐसे निश्चय करो ॥ (दृष्टान्त में कारण की असंगता मात्र अंश स्वीकार करना) ॥ ६ ॥

हे कुन्तिपुत्र अर्जुन, (जड़ चेतन) सब प्राणी, कल्प के प्रलय होने पर, मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, कल्प के आरम्भ में, मैं उनको पुनः रचता हूं ॥ अपनी (अपरा परा उभयात्मक) प्रकृति को वश में करके, इस संपूर्ण भूत समुदाय को अपनी प्रकृति के सकाश से, मैं स्वतन्त्र होकर पुनः पुनः रचता हूँ ॥ ७॥ ८ ॥

और हे धनंजय अर्जुन, वे जगत की उत्पत्ति लयं आदिक कर्म, मुझ को बन्धन को प्राप्त नहीं करते हैं, मैं उन कर्मों में मानो असंग होकर (अभिमान रहित हुआ) आसक्ति रहित हुआ (फलकी इच्छा से रहित निर्विकार) स्थित हूँ ॥ ६ ॥

मुझ अधिष्ठान सत्ता से, प्रकृति, स्थावर जंगम सहित संसार को रचती है, इसी हेतु से, जगत पुनः पुनः आता जाता रहता है ॥ १० ॥

अविवेकी जन, मुझ भूतों के महेश्वर के परं भाव को न जानते हुए, माया से मुझ मनुष्य शरीर धारी का अनादर करते हैं ॥ ११ ॥

व्यर्थ आशा वाले, निष्फल क्रिया (होमादिक) करने वाले, निष्फल (विपरीत) ज्ञान वाले, अविवेकी जन, राक्षसों वाली, असुरों वाली, मोहित करने वाली (देहात्म वादिनी) प्रकृति को (अर्थात् स्वभाव को) लेकर स्थित

हैं ॥ परन्तु हे पार्थ, महात्मा तो दैवी सम्पत्ति वाले (शम दम दयादिक) स्वभाव के आश्रित हुए, मुझको, सर्व भूतों का सनातन कारण, अविनाशी स्वरूप जान कर अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

दृढ व्रत वाले जन, यत्न करते हुए निरन्तर मेरे अद्वितीय अखंड आत्म स्वरूप का कथन करते हुए, अथवा गुण प्रभाव का कीर्तन करते हुए और भक्ति से मुझको (हृदय में, एक एक प्राणिमात्र में, एक एक अणु में, एक आत्म सत्ता मानकर) नमस्कार करते हुए नित्य समाहित हुए, मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

और कोई दूसरे भी, ज्ञान यज्ञ से मेरा पूजन करते हुए, एक परिपूर्ण परमात्म रूप से, अथवा अलग अलग देवता रूप से, अथवा सब ओर मुख वाले विराट रूप से, बहुत बहुत प्रकार से मेरी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

क्रतु (वैदिक होम) मैं हूँ, (बलि वैश्व देवादि) यज्ञ मैं हूं, (पितरों को दिये जाने वाला तर्पणादि रूप) स्वधा मैं हूं, औषध मैं हूं, मन्त्र रूप मैं हूं, आज्य अर्थात् होम का घृत मैं हूं, अग्नि मैं हूं और होम की हुई द्रव्य सामग्री मैं हूं ॥ इस जगत का पिता अर्थात् निमित्त कारण मैं हूं, माता अर्थात् उपादान कारण मैं हूं, पितामह ब्रह्मा अथवा (अभिन्न निमित्तोपादान, कारण भाव तथा कार्य

दोनों से रहित) परमात्मा मैं हूं, जानने योग्य, पवित्र, ओङ्कार तथा ऋग वेद, साम वेद और यजुर्वेद भी मैं हूं ॥ सबकी गति, पोषण करने वाला, स्वामी या ईश्वर, साक्षी, निवास स्थान, शरण लेने योग्य, निष्प्रयोजन उपकार कर्ता, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, भण्डार और अविनाशी कारण मैं हूँ ॥ मैं सूर्य रूप से तपता हूं, वर्षा को निग्रह करता हूं और छोड़ता हूं, आत्मा का ज्ञान रूप अमृत और अज्ञान का कार्य रूप मृत्यु भी मैं हूं और सब व्यक्त अव्यक्त (दोनों उपाधियों से रहित परन्तु दोनों की सत्ता और भान रूप निर्विशेष अखण्ड आत्मा) मैं हूं ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

ऋक्, साम, यजु तीनों वेदों के ज्ञाता, सोम रस के पान करने वाले, पापों से पवित्र हुए, यज्ञों से देवताओं का पूजन करके, स्वर्ग लोक प्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे पुरुष पुण्य के फल इन्द्र लोक को प्राप्त होकर, अलौकिक स्वर्ग के भोगों को भोगते हैं ॥ २० ॥

वे, इस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर, पुण्य क्षीण होने पर, मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए धर्म की शरण होकर, भोगों की कामना वाले पुरुष, आवागमन को प्राप्त होते हैं ॥२१॥

जो (सब आत्मा ही है, सब वासुदेव है, इस प्रकार

अन्य के अभाव होने से) एक परमात्मा ही को चिन्तन करने वाले भक्त जन, मेरी दृढ धारणा करते हैं, उन, सदा सब ओर से समाहित, पुरुषों का, मैं योग क्षेम करता हूं (अप्राप्त की प्राप्ति योग है और प्राप्त की रक्षा क्षेम है परन्तु भगवान की परीक्षा की आशा किये विना जो, परमात्म चिन्तन परायण उपासक हैं उनको ही इस बात का अनुभव होता है, जांच परताल करने वालों को बहुधा नहीं भी होता) ॥ २२ ॥

जो अन्य देवताओं के भक्त भी श्रद्धा युक्त हुए, पूजन करते, हैं वे भी, हे कुन्ती पुत्र अर्जुन, अविधि पूर्वक, (अर्थात् मुझ में ही होने वाली शास्त्रोक्त अनन्य श्रद्धा को छोड़कर, परन्तु, मेरा, वासुदेव परिपूर्ण स्वरूप होने से) मेरा ही पूजन करते हैं, ॥ २३ ॥

क्योंकि मैं सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी हूं, परन्तु वे (सकाम, अज्ञ, अन्य देवताओं के उपासक) पुरुष, मुझको यथावत् स्वरूप से नहीं जानते हैं इसलिये, मुख्य परम पुरुषार्थ से गिर जाते हैं ॥ २४ ॥

देवताओं की उपासना के व्रत वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, प्रेतों भूतों के उपासक भूतों में मिलते हैं, परन्तु मेरे उपासक मुझ परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

जो मेरा भक्त, मुझे भक्ति से, पत्र को (शिवको बिल्प पत्र अर्पणवत्) पुष्प को, फल को वा जल को, समर्पण करता है, उस प्रीति युक्त मन वाले, भक्ति से भेंट किये हुए प्रसाद को, मैं भोजन करता हूँ ॥ २६ ॥

जो कर्म तुम करते हो, जो भोजन तुम खाते हो, जो तुम होम करते हो, जो दान करते हो, जो तप करते हो, हे कुन्ति पुत्र अर्जुन, वह मेरे अर्पण करो ॥ २७ ॥

इस प्रकार कर्म रूप बन्धन वाले, शुभाशुभ फलों से (अथवा शुभाशुभ फल वाले कर्म रूप बंधन से) तू छूट जावेगा सम्यक् निरन्तर स्वरूपावस्थान रूप समाधि से युक्त अन्तःकरण वाला हुआ अत्यन्त मुक्त होकर मुझ परमात्मा को, तू प्राप्त होगा (अथवा ईश्वर समर्पण युक्त, निष्काम कर्म योग में, संलग्न चित्त वाला तू, ज्ञान से मुक्त होकर, मुझे प्राप्त होगा) ॥ २८ ॥

(हे भगवन, आपका अपने प्रिय भक्तों की ओर पक्षपात जान पड़ता है, और जन क्या आपके नहीं हैं, फिर औरों का उद्धार कैसे होगा इस शङ्का का समाधान करते हैं:—)

मैं सब प्राणियों में सम हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है न प्रिय है, जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझ में हैं, और मैं भी उनमें हूँ, (उनका आत्मा होकर स्थित हूँ, यहाँ

तत् त्वं असि, और त्वं तत् असि अर्थात् जो वह परमात्मा है सोई तू है और जो तू है सो वह है, यह श्वेतकेतु को उपदेश किये हुऐ, छान्दोग्य उपनिषद गत् महावाक्य का, अर्थ जानना) ॥ २६ ॥

(पापी महादुराचारी कैसे तरेंगे यह कहते हैं:—) यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी हो, मुझे अनन्य भाव से भजता है (अन्य के अभाव पूर्वक, मुझ में ही संलग्न चित्त की सजातीय वृत्ति प्रवाह से भजता है) वह साधुही मानने योग्य है क्योंकि उसने सम्यक् निश्चय किया है ॥ ३० ॥

वह शीघ्र धर्मात्मा होजाता है, अटल शांति को प्राप्त होता है, हे कुन्तिपुत्र अर्जुन, तू निश्चय करके जान (अथवा तू प्रतज्ञा कर) कि मेरा भक्त भ्रष्ट नहीं होता है ॥ ३१ ॥

हे पार्थ, मेरा सब ओर से सम्यक् आश्रय लेकर, जो कोई, पाप योनी चाण्डालादिक भी हों, अथवा, अवला स्त्रियां हों, अथवा (तृष्णा युक्त व्यापार से व्यग्र चित्त) वैश्य, तथा जो (पराई सेवा में पराधीन शरीर वाले) शुद्र हैं, वे भी (चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञानी होकर) परमात्म गति रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

फिर पुण्यात्मो ब्राह्मणों का और राज ऋषि भक्त जनों का तो कहना ही क्या है, इस अनित्य तथा दुःख

वाले, मनुष्य शरीर को पाकर तुम मेरा भजन करो ॥ ३३ ॥

(अब इस सार रूप उपदेश को कहते हैं:—) तू, मुझ परमात्मा में ही मन के मनन व्यापार वाला हो, (अन्य चिन्तन छोड़) मेरा भक्त हो (देवताओं की उपासना छोड़) मेरा पूजन अर्चन कर (देवता पितर भूतादिक का पूजन छोड़, मुझे ही नैवेद्य पुष्पादि समर्पण कर, स्तोत्रों से प्रसन्न कर) मुझे ही नमस्कार कर (अन्य मानी जनों की क्षुद्र प्रसन्नता संपादन करने को, प्रणामादि मत कर) इस प्रकार (तन मन धन से) मेरी शरण होकर, अपनी आत्मा को (मुझ परमात्मा में ही, अभेद निश्चय रूप से, एकत्व अखण्ड भाव से) समाहित करके, मुझको ही प्राप्त होगा, (क्योंकि मैं ही सब प्राणियों का आत्मा सब की परम गति हूँ इसलिये तू मुझको ही प्राप्त होगा) ॥ ३४ ॥

इति राजविद्या राजगुह्य योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् श्री परमात्मने नमः ॥

अथ दशमोऽध्यायः ॥

पीछे नवें अध्याय में भगवान की विभूतियों को कहा, अब किन किन भावों में भगवान का चिन्तन करना योग्य है वे कहते हैं क्योंकि श्रीभगवान का तत्व दुर्लभ होने से पुनः पुनः वक्तव्य है ॥ इसी लिये इस अध्याय का आरम्भ करते हैं ॥

श्री भगवान ने कहा :—फिर भी, हे महाबाहो अर्जुन, मेरे, सब से उत्कृष्ट परम हित्कारी बचन सुन, जो तुझ प्रीतिमान के लिये, तेरे हित की कामना से मैं कहूँगा ॥ १ ॥

मेरे (लीला विग्रह धारी अवतार रूप से अथवा नाना रूप से) प्रादुर्भाव होने को, न देवतागण जानते हैं न महर्षि लोग जानते हैं, क्योंकि देवताओं का और सब महर्षियों का मैं ही तो आदि कारण हूँ ॥ २ ॥

जो मुझ को अज अनादि और लोकों का महेश्वर जानता है वह मनुष्यों में असंभ्रान्त पुरुष, सर्व पापों से छूट जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धि, ज्ञान, विवेक, सहन शीलता, सत्य, इन्द्रियों का निरोध और मन की वासना रहित उपरामता, सुख,

दुःख, भाव, अभाव, भय और अभय भी ॥ अहिंसा, सम भाव, सन्तोष, तप, दान, यश और अकीर्ति, प्राणियों के नाना प्रकार के भाव, मुझ से ही (स्वप्नवत् माया द्वारा) उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

सप्त पहले के महर्षि (यानी वसिष्ठादिक) तथा चार (सनकादिक) और मनु, मेरी मानसी भावना से (सङ्कल्प मात्र से) उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में यह प्रजा है ॥ ६ ॥

जो पुरुष मेरी इस विभूति को (अर्थात् ऐश्वर्य को) और योग को (अर्थात् सामर्थ्य को) यथावत् स्वरूप से जानता है (कि सत्ता स्फूर्ति रूप परमात्मा ही सत्य है शेष आविद्यक नाम रूपात्मक दृश्य असत्य है ऐसा जानता है), सो पुरुष, निश्चल धारणा वाले योग से युक्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

मैं परमात्मा, सब का उत्पन्न करने वाला हूं, मुझसे सब जगत की प्रवृत्ति होती है इस प्रकार मुझ को यथावत् स्वरूप से जान कर, ज्ञानी लोग श्रद्धा युक्त होकर, मेरा भजन करते हैं ॥ ८ ॥

मेरे में चित्त वाले, मुझ में प्राणों को स्थित करने वाले, परस्पर बोधन करते हुए और मेरा कथन करते हुए, नित्य संतुष्ट होते हैं और रमण करते हैं ॥ ९ ॥

उन निरन्तर समाहित हुए, प्रीति पूर्वक भजन करने वालों को, मैं बुद्धि योग (अर्थात् तत्व ज्ञान) देता हूँ, जिससे, वे जन, मुझको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

उनहीं के ऊपर, दया करने के लिये मैं (उनके हृदय में) आत्म भाव से स्थित जो अज्ञान जन्य तम अर्थात् अविवेक है, उसको, प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपक से, नाश करता हूँ ॥ ११ ॥

अर्जुन ने कहा :—आप परंब्रह्म हैं, परं धाम हैं, परम पवित्र हैं, आपको सब ऋषि गण देव ऋषि नारद और असित देवल व्यासभी, सनातन, पुरुष, प्रकाशमान, आदि देव, अज और विभु (व्यापक) कहते हैं, और आप भी, मुझ से, ऐसा ही, अपना स्वरूप, कहते हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

हे केशव, जो आप मुझे कहते हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि, हे भगवन, आपके स्वरूप को न तो देवता जानते हैं न दानव जानते हैं ॥ १४ ॥

हे पुरुषोत्तम, हे भूतों के उत्पन्न करने वाले, प्राणियों के ईश्वर, हे देवों के देव, हे जगत के रक्षक, आप अपने स्वरूप को स्वयं ही जानते हो ॥ १५ ॥

आप ही, अपनी अलौकिक विभूतियों को, संपूर्ण कथन करने के लिये समर्थ हैं, जिन विभूतियों से आप,

इन लोकों को व्याप्त करके, स्थित हैं ॥ १६ ॥

हे योगी, सदा आपको निरन्तर चिन्तन करता हुआ मैं कैसे जानूं, और हे भगवन, आप मुझ से किन २ पदार्थों में चिन्तन करने योग्य हैं ॥ १७ ॥

हे जनार्दन, अपने सामर्थ्य और विभूति को, विस्तार से फिर कथन कीजिये, क्योंकि आपके वचनामृत को सुनते हुए, मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

श्री भगवान ने कहा :—हे कुरु श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तुम्हें, अपनी मुख्य मुख्य दिव्य विभूतियों को कहूंगा, क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

हे गुडाकेश अर्जुन, सर्व प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूं, और मैं, प्राणियों का आदि मध्य और अन्त भी हूं ॥ २० ॥

(आत्म ध्यान में असमर्थ के लिये, विभूतियों में, ईश्वर चिन्तन से, शनैः शनैः आत्म चिन्तन का अभ्यास, दृढ होकर, आत्मज्ञान रूपी ब्रह्म निष्ठा हो सकती है, इस लिये मुख्य मुख्य विभूतियों को, कहते हैं :—)

मैं, आदित्यों में विष्णु (वामन अवतार) हूं, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूं, मरुतगणों में मरीचि मैं हूं और तारों में चन्द्रमा मैं हूं ॥ २१

मैं वेदों में साम वेद हूं, देवताओं में इन्द्र हूं, इन्द्रियों

में मन हूं और प्राणियों में ज्ञान शक्ति हूं ॥ २२ ॥

मैं रुद्रों में शङ्कर हूं, यक्ष राक्षसों में कुबेर हूं, वसु गणों में अग्नि भी हूं, और शिखर वाले पर्वतों में, मैं मेरु पर्वत हूं ॥ २३ ॥

और हे पार्थ, पुरोहितों में, मुझे मुख्य (देवताओं का पुरोहित) बृहस्पति जानो, सेनापतियों में, मैं, स्वामी कार्तिक हूं, जलाशयों में, मैं, सागर हूं ॥ २४ ॥

मैं महर्षियों में भृगु हूं, वचनों में एक अक्षर ओङ्कार हूं, यज्ञों में जप यज्ञ हूं, और स्थित रहने वालों में, मैं, हिमालय हूं ॥ २५ ॥

सर्व वृक्षों में, अश्वत्थ (पीपल) हूं, और देव ऋषियों में नारद हूं, गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूं ॥ घोड़ों में, मुझे अमृत के समय उत्पन्न, उच्चैः श्रवा घोड़ा जानो, हाथियों में ऐरावत और नरों में, मैं राजा हूं ॥ २६ ॥ २७ ॥

शस्त्रों में, मैं, वज्र हूं, गौओं में कामधेनु हूं, मैं सन्तान उत्पन्न करने वाला वीर्य हूं, और सर्पों में वासुकी हूं ॥ २८ ॥

नागों में अनन्त नाग मैं हूं, जल के विचरने वालों में, वरुण, मैं, हूं, पितृगणों में अर्यमा, मैं, हूं, और शासकों में यमराज, मैं हूं ॥ २९ ॥

दैत्यों में प्रह्लाद हूं, गिनती करने वालों में काल हूं मैं, मृगों में सिंह हूं, और पक्षियों में गरुड़ हूं ॥ ३० ॥

पवित्र करने वालों में पवन, मैं हूँ, शस्त्रधारियों में, मैं राम हूँ, और मछलियों में, मैं मकर हूँ, तथा नदियों में, गङ्गा भागीरथी हूँ ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन, सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य मैं ही हूं. विद्याओं में, आत्म विद्या, और कथन करने वालों में, यथावत् कथन, मैं हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षरों में, मैं अकार हूँ, और समासों में, द्वन्द्व समास हूँ, मैं ही अक्षर काल हूँ, और सब ओर मुख वाला विधाता हूँ ॥ ३३ ॥

सर्व का नाश कर्ता, मृत्यु, मैं हूँ, और आगे होने वालों में, उत्पत्ति मैं हूँ स्त्रियों में, (यश) कीर्ति, श्री (शोभा), वाक् अर्थात् मृदु सत्य वाणी, स्मृति, मेधा अर्थात् धारणा, धैर्य और क्षमा (सहन शीलता) भी, मैं हूं ॥ ३४ ॥

साम ऋचाओं में, मैं बृहत साम हूँ, छन्दों में, मैं गायत्री हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुगणों में, वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

छलने वालों में, मैं जूवा हूँ, तेजवानों में, मैं तेज हूँ, मैं जय हूँ, मैं निश्चय अथवा उद्यम हूँ और सात्विक

पुरुषों का सत्व गुण, मैं हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णी कुल वालों में, वासुदेव हूँ, पाण्डु के पुत्रों में, धनंजय हूँ, मुनियों में भी, मैं व्यास हूँ और कवियों में, शुक्राचार्य हूँ ॥ ३७ ॥

दमन करने वालों में, मैं दण्ड हूँ, जीतने वालों में नीति हूँ, गुप्त रखने योग्य भावों में, मौन हूँ और ज्ञानवानों में, मैं ज्ञान हूं ॥ ३८ ॥

और हे अर्जुन, जो सब भूतों का कारण बीज है, सो मैं हूँ, जो स्थावर जंगम प्राणी, मेरे बिना हो, सो कोई नहीं है ॥ हे परंतप, मेंरी दिव्य विभूतियों का, अन्त नहीं है, यह विभूति का विस्तार, मैने, तुझ से कथन मात्र (थोड़ा सा) कहा है ॥ ३९ ॥ ४० ॥

जो जो ऐश्वर्यवान् प्राणी है, श्रीमान है, अथवा शक्तिमान है, वह वह, तू, मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान ॥ ४१ ॥

अथवा हे अर्जुन, इस बहुत जानने से क्या है, मैं, इस संपूर्ण जगत् को एक अंश में, धारण करके स्थित हूं ॥ ४२ ॥

इति विभूति योगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

अथैकादशोऽध्यायः ॥

अर्जुन ने कहा :—मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये, अध्यात्म नाम का जो परम गोपनीय बचन आपने कहा, उससे मेरा मोह जाता रहा ॥ १ ॥

क्योंकि हे कमल नेत्र, मैंने, आपसे, प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय को और अविनाशी माहात्म्य को भी, विस्तार से सुना ॥ २ ॥

हे परमेश्वर, जैसे आप अपने स्वरूप को कहते हो, यह वैसा ही है, हे पुरुषोत्तम, मैं आपके प्रभाव शाली रूप का दर्शन करना चाहता हूँ ॥ हे प्रभु, मुझ से, उस का दर्शन किया जा सकता है, यदि आप ऐसा मानते हो तब हे योगेश्वर, मुझे अपने अविनाशी स्वरूप के दर्शन कराइये ॥ ३ ॥ ४ ॥

श्री भगवान ने कहा :—हे पार्थ, मेरे सैंकड़ों और हजारों नाना प्रकार के, नाना वर्ण आकार वाले, अलौकिक रूपों को देखो ॥ ५ ॥

हे भारत, आदित्यों को, वसु गणों को, रुद्रों को, अश्वनि कुमारों को, और मरुत गणों को देखो, हे भारत पहले से अदृष्ट (यानी जो अब तक नहीं देखे ऐसे) बहुत

से आश्चर्यों को देखो ॥ हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन इस मेरे देह में एकत्र स्थित, स्थावर जंगम सहित संपूर्ण जगत को अब देखो, और और जो कुछ अन्य भी देखने की इच्छा हो (वह देखो) ॥ ६ ॥ ७ ॥

परन्तु, इन ही अपने नेत्रों से, तू मुझे नहीं देख सकेगा, मैं तुझे अलौकिक चक्षु देता हूँ, मेरी माया के सामर्थ्य और अलौकिक शक्ति को देख ॥ ८ ॥

संजय ने कहा :—तब ऐसे कहकर, महा योगेश्वर हरि ने, पार्थ के प्रति, अपने परम ऐश्वर्य युक्त, रूप को दिखाया ॥ ९ ॥

अनेक मुख नेत्रों वाले, अनेक अद्भुत दर्शन वाले, अनेक दिव्य भूषण वाले, अनेक दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए ॥ अलौकिक माला और वस्त्र धारण किये हुए, स्वर्ग वाले सुगन्धित लेपों सहित, सर्व आश्चर्य युक्त अनन्त (बे अन्त), सब ओर मुख वाले अपने स्वयंप्रकाश स्वरूप को दिखाया ॥ आकाश में, यदि, एक साथ उठा हुआ सहस्र सूर्य का प्रकाश हो तो वह उस विश्वरूप महान आत्मा के प्रकाश के समान, कदाचित हो (तो हो) ॥१० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तब पाण्डु पुत्र अर्जुन ने, एकत्र स्थित, अनेक प्रकार से विभाग किये हुए संपूर्ण जगत को, देवों के देव श्री

भगवान के शरीर में देखा ॥ १३ ॥

तब वह धनंजय अर्जुन, आंश्चर्य से युक्त, खड़े हुए रोमाञ्च वाला, शिर से देव को प्रणाम करके, हस्तांजली किये हुए, बोला ॥ १४ ॥

अर्जुन ने कहा :—हे देव, आपके देह में, सब देवताओं को, तथा अनेक भूतों के समुदायों को, ब्रह्मा को, ईश्वर (महादेव) को, कमल के आसन पर बैठे ब्रह्मा जी को ऋषियों को और सब दिव्य सर्पों को, मैं देखता हूँ ॥१५ ॥

अनेक बाहु उदर मुख और नेत्र वाले आपको, सब ओर से अनन्त रूप, मैं आपको देखता हूं, हे विश्व के ईश्वर, हें विश्वरूप! मैं आपका न अन्त न मध्य और न आदि ही देखता हूँ ॥ १६ ॥

मुकटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेज के समूह, सब ओर से प्रकाशमान, देखने में अति कठिन, प्रकाशमान जो दिव्य अग्नि सूर्य उनके प्रकाश की न्याईं, परन्तु उपमा रहित स्वरूप वान्, ऐसा मैं आपको सब ओर से देखता हूं ॥ आप सब से श्रेष्ठ, अक्षर रूप, जानने योग्य हैं, आप इस संसार के परम आश्रय हैं, आप अविनाशी, सनातन धर्म के रक्षक हैं, आप सनातन पुरुष हैं, मेरा ऐसा मत है ॥ आदि मध्य अन्त से रहित,

अनन्त वीर्य वाले, अनन्त भुजा वाले, चन्द्रमा सूर्य रूपी नेत्र वाले, मैं आपको, प्रकाशमान अग्नि के समान मुख वाले होकर, अपने तेज से इस जगत को तपाते हुए, देखता हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १६ ॥

हे महात्मन्, यह स्वर्ग और पृथवी, अन्तराकाश, और सर्व दिशा, तुझ एक से ही व्याप्त हैं, तेरे इस अद्भुत उग्र रूप को देख कर, तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

यह देवताओं के समूह आप में ही प्रवेश करते हैं, कोई भय युक्त होकर, हस्तांजली किये हुए गिड़गिड़ाते हैं, आप का कल्याण हो, ऐसे कह कर, महर्षिगण और सिद्धों के समूह अच्छे अच्छे बहुत स्तोत्रों से आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

रुद्र आदित्य और वसुगण और जो साध्य हैं, विश्वेदेव, अश्वनी कुमार, मरुत गण और उष्मपा पितर, गंधर्व, यत्त, असुर, सिद्धों के समूह, आपको सब ही चकित होकर, देखते हैं ॥ २२ ॥

हे महाबाहो, आपके बहुत से मुख और नेत्र वाले, बहुत से उदर भयानक जाड़ों वाले, महान रूप को देख कर, तीनों लोक और मैं भी (सब) व्याकुल हो रहे हैं ॥ २३ ॥

क्योंकि हे विष्णो, आकाश को छूते हुए, प्रकाशमान, अनेक रंग वाले, मुख खोले हुए, चमकते हुए विशाल नेत्र वाले, आप (के रूप) को देख कर, अन्तर हृदय अत्यन्त पीड़ित हुआ, मैं धैर्य और शान्ति को नहीं प्राप्त होता हूं ॥ और भयंकर जाड़ वाले, काल अग्नि के सदृश आपके मुखों को देख कर, न मैं दिशाओं को जानता हूँ और न सुख को ही प्राप्त होता हूं, हे जगत के आश्रय, भगवान, आप प्रसन्न होवें ॥ और आपके यह धृतराष्ट्र के पुत्र, सब महीपालों के समुदायों के सहित, भीष्म द्रोण तथा वह सूत पुत्र कर्ण, हमारे भी मुख्य योद्धा गणों के सहित ॥ आपके भयानक, बड़ी जाड़ों वाले मुख में, शीघ्रता से प्रवेश करते हैं, कोई, चूर्ण हुए मस्तकों सहित, दांतों के बीच में, फँसे हुए, दीखते हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

जैसे नदियों के बहुत से जल के वेग, समुद्र के ही सन्मुख हो कर दौड़ते हैं तैसे ही यह वीर मनुष्य लोक, आपके सब ओर से प्रज्वलित मुखों में प्रवेश करते हैं ॥ जैसे पतंग, विनाश के लिये, जलती हुई अग्नि में, बढे हुए, अति वेग से गिरते हैं, ऐसे ही लोक भी, नाश के लिये, अत्यन्त बढ़े हुए वेग से, आपके मुखों में प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

आप संपूर्ण लोकों को ग्रास करते हुए, अत्यन्त जलते हुए मुखों से, आस्वादन कर रहे हैं, संपूर्ण जगत को अपने तेज से परिपूर्ण करके, आपकी तीक्ष्ण किरणें, हे विष्णो, अत्यन्त तपा रही हैं ॥ ३० ॥

मुझ से कहिये, आप अत्यन्त तेज रूप कौन हैं, हे देव वर, प्रसन्न हूजिये, आपको नमस्कार हो, मैं आपके, आदि कारण स्वरूप को, जानने की इच्छा करता हूं, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता हूं ॥ ३१ ॥

श्री भगवान ने कहा :—मैं लोकों के नाश करने के लिये बढा हुआ काल हूं, लोकों का संहार करने के लिये यहां प्रवृत्त हुवा हूं, जो प्रत्येक सेना के योद्धा स्थित हैं, वे सब ही, तेरे बिना भी, नहीं रहेंगे ॥ ३२ ॥

इस वास्ते तुम उठो, यश को प्राप्त करो, शत्रुओं को जीत कर, विभूति संपन्न राज को भोगो, यह पहले से ही मैंने मार डाले हैं, हे बायें हाथ से बाण चलाने वाले अर्जुन, तू निमित्त मात्र होजा ॥ ३३ ॥

मेरे मारे हुए, द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य भी वीर योद्धाओं को तू मार, भय मत कर, युद्ध कर, रण में शत्रुओं को तू जीतेगा ॥ ३४ ॥

संजय ने कहा :—केशव के इस बचन को सुनकर, भयभीत हुवे मुकुटधारी अर्जुन ने, हस्तांजली करके,

नमस्कार करके, गदगद बाणी सहित, भयभीत होकर, फिर भी श्री कृष्ण से कहा ॥ ३५ ॥

अर्जुन ने कहाः—हे हृषीकेश, यह योग्य ही है, आप के यश गाने से, जगत अत्यन्त हर्ष को प्राप्त होता है और अनुराग को (प्रीति विशेष को) प्राप्त होता है, भय से राक्षस लोक चारों दिशा की ओर भागते हैं और सब सिद्धों के समूह नमस्कार करते हैं ॥ ३६ ॥

हे महात्मन, मैं आपको कैसे नमस्कार करूं, आप श्रेष्ठ हो और ब्रह्मा के भी आदि कर्ता हो, अनन्त हो, देवेश हो, जगत का आश्रय हो, आप अक्षर हो, जो व्यक्त अव्यक्त हैं उससे परे हो ॥ आप आदि देव हो, पुराण पुरुष हो, आप इस विश्व के परम आश्रय हो, जानने वाले हो, जानने के योग्य हो, परम धाम हो, हे अनन्त रूप, आप से विश्व व्याप्त होरहा है ॥३७॥३८॥

आप, वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति, और पितामह ब्रह्मा के भी कारण अव्यक्त हो, आप को हजार बार नमस्कार हो नमस्कार हो, नमस्कार हो, फिर भी नमस्कार हो और भी अधिक नमस्कार हो ॥ आपको आगे से नमस्कार हो और पीछे से नमस्कार हो, हे देव आपको सर्व ओर से ही नमस्कार हो, आप अनन्त वीर्य वाले हो, अनन्त पराक्रम वाले हो, सब को

सम्यक् व्याप्त किये हुए हो इस वास्ते आप सर्व रूप हो ॥ ३९ ॥ ४० ॥

सखा मान कर, जो बल से, मैंने कहा कि हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, आपकी इस महीमा को न जानते हुए, प्रमाद से, अथवा प्यार से भी (जो कहा) ॥ जो उपहास के लिये, क्रीड़ा समय, शयन काल में वा भोजन काल में, अकेले अथवा हे अच्युत, उन सखाओं के सामने भी, आप अपमानित हुए हो, हे अप्रमेय (उपमा रहित), वह मैं आप से क्षमा कराता हूँ ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

आप इस स्थावर जङ्गम लोक के पिता हो, सब से श्रेष्ठ गुरु हो, आपके समान भी कोई नहीं है, तब और कोई अधिक कहां से होगा, आप तीनों लोकों में भी अद्वितीय प्रभाव वाले हो ॥ ४३ ॥

· इस वास्ते प्रणाम करके, शरीर को साष्टाङ्ग दण्ड की न्याईं रख कर, हे स्तुति करने योग्य ईश्वर, मैं आप से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूं, जिस प्रकार पिता पुत्र के और सखा सखा के और प्रिय पुरुष प्रिया स्त्री के (अपराध को सहन करता है) इस प्रकार आप (मेरे अपराध को) सहन करने के योग्य हैं ॥ ४४ ॥

पूर्व कभी देखा नहीं, इस लिये उसको देखकर मैं प्रसन्न आनन्द से पूर्ण हो रहा हूँ और मेरा मन भी भय

से अति व्याकुल हो रहा है, हे देवेश, आप मुझे वही देव (सौम्य दिव्य) स्वरूप दिखलाइये, हे जगत के आश्रय प्रसन्न हूजिये ॥ ४५ ॥

मैं वैसे ही, मुकट धारी, गदा धारी, हस्त में चक्र धारण किये, आपके दर्शन करना चाहता हूँ, हे सहस्र वाहो, हे विश्व मूर्ते, उसी चतुर्भुज रूप से हो जाइये ॥४६॥

श्री भगवान ने कहा :— हे अर्जुन, प्रसन्नता से, मैंने, तुझे यह परम रूप, अपने सामर्थ्य से दिखाया, जो तेजोमय है, विश्वरूप, आदि अन्त से रहित है, तेरे सिवाय दूसरे किसी ने पूर्व नहीं देखा ॥ हे कुरुवंश में अत्यन्त वीर अर्जुन, न वेदों से और न यज्ञों से, अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न कठिन तपों से, तेरे से बिना दूसरे किसी से, इस मनुष्य लोक में, ऐसे विराट स्वरूप से, मैं देखा जा सकता हूं ॥ तुझे भय पीड़ा मत हो, और मेरे ऐसे विकराल रूप को देख कर बिमूढ भाव मत हो, भय से रहित प्रसन्न मन वाला होकर फिर तू मेरा वही यह रूप (सौम्य स्वरूप) देख ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

संजय ने कहा :—वासुदेव ने अर्जुन को ऐसे कह कर, वैसा ही अपना रूप फिर दिखलाया, और पुनः सौम्य स्वरूप होकर महात्मा श्रीकृष्ण ने, इस भयभीत

अर्जुन को धीरज दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन ने कहा:—हे जनार्दन, इस आपके सौम्य (मनोहर कोमल) मानुषी रूप को देखकर, अब मैं, सम्यक् वृत्ति युक्त, सचेत और स्वभाव को प्राप्त हुवा हूं ॥५१॥

श्रीभगवान ने कहा:—मेरा यह, दर्शन प्राप्ति के लिये अत्यन्त कठिन, विराट स्वरूप, जो तूने देखा है, देवता भी इस रूप के दर्शन के नित्य अभिलाषी रहते हैं ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकार मैं, न वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञानुष्ठान से, देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥

परन्तु हे अर्जुन, मैं, अनन्य भक्ति से इस प्रकार जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और हे परंतप, (जल तरङ्गवत् अभेद रूप से) प्रवेश भी किया जा सकता हूँ॥५४॥

हे पाण्डव, जो पुरुष, मेरे अर्थ कर्म करने वाला है, मुझे ही परम् सब से श्रेष्ठ समझने वाला है (कि जो कुछ हैं मेरे तो परमात्मा ही हैं) मेरा भक्त है और संग से रहित है (अन्य के अभाव होने से अपने को श्री परमात्मा के अन्तर्गत् परमात्म स्वरूप असंग मानता है और व्यवहार में भी राग तथा संसर्ग से रहित है) सर्व प्राणियों में निर्बैर है सो मुझ को प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

(यह, मोक्षार्थ, संपूर्ण गीता का, अनुष्ठान करने के योग्य,

सार भूत अर्थ, श्री भगवान ने, इस अध्याय के अन्त के श्लोक में, कह दिया ॥) श्री कृष्णार्पणमस्तु ॥

इति विश्व रूप दर्शन योगो नामैकादशोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् परमात्मने नमः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥

अर्जुन ने पूछाः— इस प्रकार निरन्तर लगे हुये जो भक्त आप (के सगुण रूप) की दृढ़ उपासना करते हैं और जो अविनाशी अव्यक्त (निराकार अमूर्त्त) स्वरूप की उपासना करते हैं, उन में से कौन, सबसे अधिक योग के ज्ञाता हैं ॥ १ ॥

श्री भगवान ने कहा :— जो भक्त वा योगी, मुझ विश्व रूप में मन को लगा कर, नित्य समाहित होकर, परम श्रद्धा सहित होकर, मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे श्रेष्ठ योगी सम्मत हैं ॥ २ ॥

परन्तु जो पुरुष, अविनाशी, अकथनीय, अमूर्त्त, सर्वत्र विद्यमान, चिन्तन में न आने वाले, निर्विकार, अचल और नित्य स्वरूप की उपासना करते हैं ॥ वे, इन्द्रिय समूह को सम्यक् निग्रह किये हुए, सर्वत्र सम बुद्धि वाले, सर्व प्राणियों के हित में रमणशील पुरुष,

मुझ को ही प्राप्त होते हैं ॥ (उनके विषय में श्रेष्ठ योगी अश्रेष्ठ योगी ऐसा कथन ही असंभव है क्योंकि श्री भगवान पूर्व कह चुके हैं ॥ ज्ञानी मेरा आत्मा ही है ऐसा मेरा निश्चय है) ॥ ३ ॥ ४ ॥

उन अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों को, अधिकतर क्लेश होता है (अर्थात् ध्यान चिन्तन करने में अत्यन्त परिश्रम होता है) क्योंकि निराकार का ज्ञान, देहाभिमानियों को दुःख से प्राप्त होता है (अशरीर आत्मा में शरीर बुद्धि के दृढ़ होने से, शरीर दृष्टि वालों के बिना दीर्घ काल के विचार अभ्यास के, आत्मा का अखण्ड अनन्त रूप से दृढापरोक्ष साक्षात्कार होना कितना कठिन है, यह सब विद्वानों के अनुभव सिद्ध है) ॥ ५ ॥

परन्तु जो सगुण उपासक तो, सर्व कर्मों को मुझ में समर्पण करके, मेरे परायण (शरण) होकर, अन्य के अभाव पूर्वक धारणा से, मेरा चिन्तन करते हुए, उपासना करते हैं ॥ उन मेरे में प्रवेशित चित्त वालों का, हे पार्थ, मैं शीघ्र ही, मृत्यु रूप संसार सागर से उद्धार करता हूं ॥ ६ ॥ ७ ॥

मुझ में ही मन को लगाओ, मुझ में ही बुद्धि को प्रवेश करो, इस शरीर त्याग से पीछे, मुझ परमात्मा में ही तुम निवास करोगे, इस में संशय नहीं है ॥ ८ ॥

और जो तुम मुझ में चित्त को स्थिर समाहित करने को समर्थ नहीं हो, तो, हे धनंजय, (मुझ में चित्त के स्थापन के प्रयत्न रूप) अभ्यास योग से, मुझ को प्राप्त होने की इच्छा करो ॥ ९ ॥

अभ्यास में भी तू असमर्थ हो तो, मेरे अर्थ, कर्म परायण हो जा, मेरे अर्थ कर्मों को करता हुआ भी (चित्त शुद्ध होकर ज्ञान द्वारा) मोक्ष सिद्धि को तू प्राप्त हो जावेगा ॥ (वेद मत प्रचार, सामाजिक सुधार, कुमार्ग से निवारण, ईश्वर भक्ति का प्रचार, पाठशाला मन्दिरादि लोकोपकारक संस्था बनाना, यह सब ईश्वरार्थ कर्म करना है) ॥ १० ॥

और यह भी करने को असमर्थ होवे, तो मेरे निष्काम कर्म योग का आश्रय लेकर, यत्नशील होकर, सर्व कर्मों के फल को त्याग कर (अर्थात् फल की इच्छा से रहित होकर स्वभाविक स्वधर्मों का पालन कर)। ११॥

(बिना सार को समझे हुए हठ मात्र किसी) अभ्यास से, उसका शास्त्रीय श्रौत ज्ञान होना श्रेष्ठ है, केवल श्रौत ज्ञान से, उसका ध्यान (चिन्तन उपासना) श्रेष्ठ है, ध्यान से, कर्मों के फल का परमात्मा में समर्पण रूप त्याग, श्रेष्ठ है (क्योंकि वह तो ज्ञातत: वा अज्ञातत: सब ही, ईश्वरोपासना हर समय की, हो जाती है, इस

लिये श्रेष्ठ है) और त्याग से, तत्काल ही शान्ति होती है (निष्काम चित्त का कामना के बोझ से हलका हो जाना शान्ति है, यही निर्वासनीकता है) ॥ १२ ॥

अब भगवद्भक्त के लक्षणों का निरूपण करते हैं:—

सर्व प्राणियों में द्वेष से रहित (मुदिता वाला) मित्रता वाला (अर्थात् सब के सुखों को अपना सुख मानने वाला) और दयालू भी (करुणा युक्त तथा), ममता और अहंकार से रहित, सुख दुःख में समान और सहनशील अथवा क्षमा करने वाला (उपेक्षा वान) ॥ जो निरन्तर सन्तुष्ट, यत्नशील, दृढ़ निश्चय वाला, मुझ में समर्पित मन बुद्धि वाला है (जिसके मन बुद्धि का व्यापार मेरे स्मरण के साथ साथ होता है अथवा मेरे ही अर्थ होता है) वह मेरा भक्त है मुझे प्रिय है ॥ १३ ॥ १४ ॥

जिससे लोक (संसार के मनुष्य) उत्तेजित नहीं होते, और जो मनुष्यों से क्षोभ को नहीं प्राप्त होता है, जो, हर्ष, असहिष्णुता (अर्थात् न सहन होना) भय और उद्वेग से रहित है, वह मुझे प्यारा ही है ॥ १५ ॥

जो पुरुष, अपेक्षा से रहित है (कोई आवश्यकता किसी की सहायता की नहीं रखता है), अन्तर बाहर शौच वाला है, अपने कार्य में कुशल है, निःपक्ष असंग है, भय पीड़ा से रहित है (प्रद ह पतित, सहज, स्वाभाविक

शास्त्र विहित, वर्णाश्रम धर्म से अतिरिक्त) सब कार्यों का त्यागी है, भक्ति वाला है, वह मेरा प्यारा है ॥ १६ ॥

जो न हर्ष मानता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है (न खेद मानता है), न इच्छा करता है, शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के कर्मों के फलों का परित्यागी है (अर्थात् ईश्वरार्थ समर्पण करने वाला है) ऐसा जो भक्ति वाला पुरुष है सो मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

शत्रु मित्र में और मान अपमान में, एक रस, तथा शीत उष्ण सुख और दुःखों में समान, राग से रहित ॥ निन्दा स्तुति में समान (निर्विकार) मौनी (यानी ध्यान चिन्तन परायण) जैसे कैसे (निर्वाह मात्र भोग से) संतुष्ठ, निवास स्थान में ममत्व से रहित, स्थिर बुद्धि भक्ति मान पुरुष, मेरा प्यारा है ॥ १८ ॥ १६ ॥

जो पुरुष तो, श्रद्धावान होकर, इस अमृत रूप धर्म का, मेरे किये हुए उपदेशानुसार, दृढ़ सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ॥ २० ॥

इति भक्ति योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

हरिःॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्याय ॥

सातवें अध्याय में ईश्वर की दो प्रकृति कही थीं, एक तो त्रिगुणात्मक अष्ट प्रकार से पृथक की हुई, संसार का उपादान कारण, क्षेत्र रूप अपरा प्रकृति है और दूसरी जीव रूप क्षेत्रज्ञ ईश्वर स्वरूप, जगत की निमित्त कारण, कुलाल वत् उत्पत्ति स्थिति और संहार करने वाली, परा प्रकृति है ॥ इन दोनों प्रकृति से ही संसार होता है एक से नहीं हो सकता है ॥ इन दोनों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ स्वरूप दोनों प्रकृतियों के निरूपण द्वारा, ईश्वर के तत्व निरूपण के वास्ते, इस क्षेत्र अध्याय का आरम्भ करते हैं, पीछे के अध्याय में "अद्वेष्टा सर्व भूतानां" से लेकर अध्याय के अन्त तक, ज्ञानी भक्तों और यतिवरों की निष्ठा का तथा उनके व्यवहार का निरूपण किया ॥ किस तत्व ज्ञान से युक्त होकर, यथोक्त धर्माचरण पूर्वक, भगवान के प्यारे होते हैं, इस कथन के प्रयोजन के लिये यानी तत्व ज्ञान निरूपण करने को, इस अध्याय का आरम्भ है ॥ त्रिगुणात्मक प्रकृति, क्षेत्र रूप से, कार्य परिणाम को प्राप्त हुई, वही, पुरुष के भोग मोक्ष के वास्ते संघात रूप शरीर है ॥ जैसे क्षेत्र में बोये

हुए बीज, कालान्तर में फल देते हैं; इसी प्रकार, इस शरीर में, किये हुए कर्मों के संस्कार रूप बीज, रहते हैं, जिनका जन्म जन्मान्तर में जाति आयु, और सुख दुःख भोग रूप फल होता है, इस लिये यह शरीर क्षेत्र कहलाता हैं, इसी बात को कहने को, श्री भगवान ने कहा :—हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है ऐसे कथन किया जाता है, इस क्षेत्र को जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ है, ऐसे तत्व वेत्ता कहते हैं ॥ १ ॥

(यह क्षेत्रज्ञ त्वं पद जीव का स्वरूप है यह कहा अब वही तत् पद ईश्वर है, और यह ज्ञान भी तत्व ज्ञान है इस बात को कहते हैं :—)

और हे भारत, सर्व क्षेत्रों में (शरीरों में त्वं पद) क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी, मुझ (तत् पद) को ही जानों जो क्षेत्र अर्थात् कार्य सहित प्रकृति है और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष है, इन दोनों का जो ज्ञान है वही तत्व ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है (निश्चय है) ॥ (सब ब्रह्मा से लेकर अणु सम, कीट पर्यन्त के, शरीरों में, यानी क्षेत्ररूप उपाधियों में, सर्व उपाधियों से विनिर्मुक्त एक क्षेत्रज्ञ मैं हूं ऐसा मुझको जानो, यही मुझ परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है, यही पूर्व कह चुके हैं ॥ " हे गुडाकेश, सर्व प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा, मैं हूं") ॥ २ ॥

वह क्षेत्र जो है, और जैसा है, और जिन विकारों वाला है, और जिस से जो हुआ है, और वह (क्षेत्रज्ञ) जो है, और जिस प्रभाव वाला है, वह सब, संक्षेप से, मुझ से सुन ॥ ३ ॥

(इसी ज्ञान को, ऋषियों ने, बहुत प्रकार से, नाना प्रकार के अलग अलग छन्दों से (वेदमन्त्रों से) गायन किया है और दृढ़ निश्चित, युक्ति युक्त, ब्रह्म बोधक सूत्र रूप पदों से भी, कथन किया है ("आत्मेत्येवोपासीत," अर्थात् सब आत्मा ही है यही चिन्तन करके स्थित हो, "ब्रह्म विदाप्नोति परं" अर्थात् ब्रह्म वेत्ता, परमात्मा को प्राप्त होता है, इत्यादिक श्रुति वाक्य ब्रह्मसूत्र पद कहलाते हैं, जो वाक्य तो अल्प हैं परन्तु जिनकी व्याख्या का बहुत विस्तार होता है, इस लिये वे, सूत्र रूप पद कहे गये हैं) ॥ ४ ॥

पंच सूक्ष्म महाभूत, कारण अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त (मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक माया सहित, यह आठ प्रकृति कहीं, यह सब मिल कर क्षेत्र का स्वरूप है, अब आगे उनके कार्य रूप ६ विकारों को कहते हैं :—) तथा दश इन्द्रियाँ, एक मन और पाँचों ज्ञान इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) ॥ (इनसे होनेवाले) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, देह रूप समुदाय, समझ, धैर्य्य, यह सब, क्षेत्र (का स्वरूप) विकार सहित कथन किया ॥५॥६॥

(अब ज्ञान के साधनों का निरूपण करते हैं, ज्ञान के हेतु होने से उनको भी ज्ञान के नाम से ही कहा है:-) मान का न होना, (यानी अपनी प्रशंसा स्तुति न चाहना), दंभी न होना (अर्थात् स्वधर्म प्रकट करने के लिये दिखावे का आचरण न करना), हिंसा न करना (अर्थात् मन वाणी शरीर से किसी प्रकार से किसी को न सताना), सहन शीलता, सरलता, आचार्य की सेवा करना (स्तुति करना, भक्ति ज्ञान वैराग्य धर्माचार की बातें सुनना और अनुकूल आचरण से प्रसन्न रखने का यत्न करना सब आचार्य की उपासना है) बाहर भीतर की शुद्धि (जल मृत्तिकादि से शरीर की शुद्धि है शुद्ध व्यवहार से द्रव्य अन्नादि का उपार्जन करना आजीविका की शुद्धि है, यथायोग्य वरतने से, लेन देन बोल चाल से, आचरण की शुद्धि है, यह तो बाहर की शुद्धि है, और राग द्वेष रहित चित्त होना अन्तर की शुद्धि है, यह सब शौच कहलाता है) मन बुद्धि की दृढ़ता तथा मन इन्द्रियों को नियम में रखना ॥ इन्द्रियों के विषयों में वैराग, और अहंकार न होना भी, (तथा वैराग के हेतु) जन्म में, मृत्यु में, जरा में और व्याधि में दुःखों का और दोषों का विचार करते रहना ॥ पुत्र स्त्री गृह आदिक में दृढ राग न होना, और उन में अत्यन्त आत्मभाव न

होना (कि इनके विनाश से मेरा विनाश होगया तद्वत्) और इष्ट तथा अनिष्ट की प्राप्ति में सदा एक रस निर्विकार चित्त होना ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

मुझ परमात्मा में, अन्य रहित, धारा वाही प्रवाह वाली धारणा से, अन्यत्र कहीं न जाने वाली भक्ति, एकान्त देश का सेवन (जहां चित्त विकारी न हो सके) जन समुदाय में प्रीति रुचि का न होना ॥ १० ॥

आत्मा अनात्मा के विवेक वाले ज्ञान के नित्य परायण रहना, तत्व ज्ञान का अर्थ जो परमात्मा की सर्व रूपता अद्वैतता अखण्डता, सर्वात्मता अनन्तता, सच्चिदानंद स्वरूपता और निर्विशेषता है उसका श्रवण मनन निदिध्यासन पूर्वक साक्षात्कार करना, (यह सब ज्ञान के साधन मिलकर ही) यह ज्ञान है और जो इससे भिन्न है सो अज्ञान है, ऐसा (वेद शास्त्र गुरु महात्मा जनों ने) कहा है (इन ही साधनों से ज्ञान होता है, अन्य किसी के वहकाने में आकर किसी क्रिया जाल में फँस कर व्यर्थ आयुष न खोना, यह श्री भगवान का तात्पर्य है ॥११॥

(अब इन साधनों द्वारा जो जानने योग्य सत्य वस्तु है उस ज्ञेय का स्वरूप कहते हैं क्योंकि उसी का ज्ञान तो प्राप्त करना है, इसलिये वही विचारने योग्य है :—)

जो ज्ञेय है, जिसको जान कर ज्ञानी अमर भाव को

प्राप्त होता है, उसको मैं कहता हूं, वह आदि रहित अर्थात् नित्य परं ब्रह्म है, न वह व्यक्त कहलाता है, न अव्यक्त कहलाता है, यानी वे दोनों उपाधियाँ, मायिक और असत्य होने से, वह, दोनों उपाधियों से रहित है, निर्विशेष है ॥ १२ ॥

(निर्विशेष, कथन का विषय नहीं है, इस लिये माया उपाधि की दृष्टि से उसके सगुण स्वरूप का कथन करते हैं :—)

वह परं ब्रह्म, सब ओर से पाणीपाद वाला है, सब ओर से नेत्र शिर और मुख वाला है, संसार में सब ओर श्रोत्र वाला है और सब को व्याप्त कर, यानी आप सब रूप होकर स्थित है (जैसे सूत, कपड़े में सब ओर से व्याप्त कर, आप ही कपड़े के नाम से प्रसिद्ध होता है, ऐसे ही अपनी माया से, परमात्मा, सब में व्याप कर, आप ही सब रूप हो रहा है, अथवा जैसे स्वप्न द्रष्टा व्याप कर आप ही स्वप्न दृश्य का रूप धारण करता है तद्वत् जान लेना) ॥ १३ ॥

सर्व इन्द्रियों के गुणों से वैसे २ गुणों वाला ध्यान करता, चलता, सुनता देखता इत्यादिक) भासता है, परन्तु सर्व इन्द्रियों से अत्यन्त पृथक है, असंग है, (अपनी अद्भुत माया शक्ति से सब को धारण करने वाला

भी है, वस्तुतः निर्गुण है, और गुणों का भोक्ता भी है, (शब्दादि ग्रहण द्वारा, सुख दुःख मोहादिक के आकार से परिणाम को प्राप्त जो सत्वादिक गुण हैं, उन्हीं का उपलब्धा अर्थात् भोक्ता मानने वाला भी है) ॥ १४ ॥

और प्राणियों के अन्तर बाहर, स्थावर वृक्षादि और जङ्गम जीव जन्तु रूप से भी है, वह परमात्मा, सूक्ष्म होने से, (स्थूल चित्त वालों से) जानने योग्य नहीं है, दूर स्थित है और वही ब्रह्म (सूक्ष्म एकाग्र शुद्ध मन वालों के) समीप है (यानी आत्मा रूप से साक्षात्कार होता है ॥ १५ ॥

और वह विभाग रहित (एक अखण्ड) भी है परन्तु प्राणियों में पृथक पृथक की न्याईं स्थित है (घटों के जलमें, एक चन्द्र के नाना प्रतिबिम्बों की न्याईं, एक ब्रह्म नाना जीव रूप से अध्यस्त हुवा हुवा भी नाना रूप से स्थित जान पड़ता है) वह भूतों को धारण करने वाला, भूतों को उत्पन्न करने वाला और संहार करने वाला, ज्ञेय (का स्वरूप) है ॥ वह सूर्यादि ज्योतियों का भी प्रकाशक स्वयं प्रकाश, अज्ञान से परे कहलाता है, ज्ञान रूप है, ज्ञेय रूप है, ज्ञान से जानने योग्य है, और सब के हृदय में आत्मा होकर (अपरोक्ष रूप से विशेषतः ज्ञात होकर) स्थित है ॥ १६ ॥ १७ ॥

इस प्रकार क्षेत्र को, ज्ञान को, और ज्ञेय को, संक्षेप से कहा, मेरा भक्त सब यह जान कर, मेरे स्वरूप की प्राप्ति के योग्य होता है ॥ १८ ॥

पुरुष और प्रकृति को भी, दोनों को ही, अनादि जानों, और इन्द्रिय विषय मनादिक विकारों को, और सत्वादिक गुणों को, तथा उनके कार्य रूप राग द्वेषादिक गुणों को भी, प्रकृति से उत्पन्न हुए जानों ॥ १९ ॥

कार्य कारण को उत्पन्न करने वाली होने में उपादान कारण, प्रकृति कहलाती है (जैसे मृद और घट दोनों कारण कार्य हैं परन्तु उन दोनों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति है, तद्वत् सर्वत्र कारण कार्य उपाधियों में सबकी कारण, प्रकृति है, यह जानना चाहिये) सुख दुःखों के भोक्ता होने में निमित्त कारण, पुरुष (अथवा ईश्वर) कहलाता है (सुख दुःख भोग का नाम संसार है और पुरुष भोक्ता संसारी है यह तात्पर्य्य है) ॥ २० ॥

पुरुष प्रकृति में स्थित हुवा (अभिमान को धारण करता हुवा) ही प्रकृति से उत्पन्न हुये गुणों को भोगता है (यानी सुख दुःखादि भावों को प्राप्त होता है), गुणों का संग (अर्थात् गुणों में राग और अभिमान) ही इस पुरुष के, उत्कृष्ट निकृष्ट योनियों में जन्मों का कारण है ॥ २१ ॥

इस देह में, पुरुष, पर है (अर्थात् सूक्ष्म श्रेष्ठ और देह से परे है परन्तु व्यवहारार्थ) साक्षि हुआ उपद्रष्टा, (बुद्धि से) अनुमोदन करता, (माया उपाधि से सब का) धारण पोषण करता, (जीव रूप से) भोक्ता, (उत्पत्ति स्थिति लय करता होने से) महेश्वर, और (सर्व उपाधि से विनिर्मुक्त होने से) परमात्मा भी कहा जाता है ॥ २२ ॥

जो इस प्रकार पुरुष को असंग और प्रकृति को गुणों के सहित, जानता है, वह ज्ञानी, सब प्रकार से वर्तता हुआ भी, फिर नहीं जन्मता है ॥ २३ ॥

कोई ज्ञानी अपने स्वरूप आत्मा को, सूक्ष्म एकाग्र हुई शुद्ध बुद्धि से, ध्यान द्वारा, हृदय में साक्षिरूप से, देखते हैं (अनुभव करते हैं) कोई दूसरे पण्डित सांख्य योग से, (वेदान्त ज्ञान द्वारा,) और दूसरे निष्काम कर्म योग द्वारा, (चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान होकर आत्मा को साक्षात्कार करते हैं) ॥ २४ ॥

दूसरे पुरुष तो, इस प्रकार न जानते हुए, दूसरे ज्ञानियों से सुनकर ही, ध्यानाभ्यास करते हैं, वे भी श्रवण परायण हुए, (ज्ञान द्वारा) मृत्यु को अवश्य तर जाते हैं ॥ २५ ॥

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन, जितना स्थावर जङ्गम प्राणी

उत्पन्न होता है, उसको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से हुआ जानो (यह संयोग ही दोनों का परस्पर सम्मिलित अध्यास है, जिसको अन्योन्याध्यास वा जीवता कहते हैं ॥ २६ ॥

असत्य विनाशी शरीरों में, विनाश रहित, सर्व प्राणियों में एक रस स्थित (कूटस्थ रूप) परमेश्वर को, जो जानता है वह जानता है (अन्य तो विपरीत दर्शी हैं, कुछ का कुछ देखते हैं) ॥ २७ ॥

सर्वत्र, समान स्थित, ईश्वर को ही एक रस (सामान्य विशेष भाव से रहित) देखता हुवा, अपने स्वरूप से, अपने आप आत्मा को नहीं हनन करता है (दूसरा कोई नहीं है तब किसको हनन करेगा) इस लिये परम गति मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

और कर्मों को सर्व प्रकार से, प्रकृति ही करती है, ऐसे जो देखता है, तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथावत् देखता है (परमार्थ दर्शी है) ॥ जब प्राणियों के न्यारे न्यारे होने को, (आत्मैवेदं सर्वं अर्थात् यह सब आत्मा ही है इस ज्ञान से) एक आत्मा में स्थित (महाकाश में नाना घटाकाश वत् अथवा स्वप्न द्रष्टा में नाना स्वप्न नर वत् गुरु, शास्त्र के उपदेश के अनुसार, जानता है) देखता है और उसी के मायिक विस्तार को ("आत्मत

आकाश आत्मत प्राण' अर्थात् आत्मा ही से आकाश है आत्मा ही से प्राण हुआ इत्यादिक श्रुति प्रमाण से) देखता है, तब ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ ३० ॥

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन, अनादि होने से और निर्गुण होने से, यह अविनाशी परमात्मा, शरीर में स्थित हुआ भी न करता है, न (पुण्य पाप सुख दुःख से) लिपायमान होता है (साक्षि रूप से इसकी उपलब्धी देह में प्रत्यक्ष है, इसलिये शरीरस्थ कहा) ॥ ३१ ॥

जैसे सूक्ष्म होने से, सर्वत्र व्याप्त हुवा आकाश, (धूलि धूम्रादि से) लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुवा आत्मा, (देह के धर्मों से) लिपायमान नहीं होता है ॥ ३२ ॥

हे भारत, जिस प्रकार, एक सूर्य, इस संपूर्ण लोक को प्रकाशता है, उसी प्रकार क्षेत्री परमात्मा, संपूर्ण क्षेत्र को प्रकाशता है ॥ ३३ ॥

जो जन, इस प्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विवेक अथवा भेद को यानी भिन्न भिन्न लक्षणों को और भूतों के प्रकृत्ति से छूटने को (अथवा अविद्या तत्कार्य के अभाव निश्चय को) ज्ञान रूपी नेत्र से यथावत् जानते हैं वे महात्मा जन, परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इति क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

हरिःॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥

पीछे श्री भगवान ने कहा था कि सर्व उत्पत्ति मात्र जो कुछ है सो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है, यह कैसे हुवा, इस बात को दिखाने के लिये, इस अध्याय का आरम्भ है ॥ अथवा, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनों ईश्वर के आधीन होकर ही जगत के कारण हैं, सांख्य मत वालों की न्याईं वे स्वतन्त्र नहीं हैं, इसी वास्ते, पुरुष का प्रकृतिस्थ होना और गुणों में उसका संग होना ही संसार का कारण कहा है ॥ किस गुण में, कैसा राग है और कैसे वे गुण हैं और कैसे वे गुण बन्धन को प्राप्त करते हैं और उन गुणों से मोक्ष अर्थात् निवृत्ति कैसे होती है और मुक्त के लक्षण क्या हैं यह कहना है इसके वास्ते ही इस अध्याय का आरम्भ है ॥

श्री भगवान ने कहाः— ज्ञानों में उत्तम परम ज्ञान को फिर मैं तुम से कहूँगा, जिसको जान कर, सब मुनि, इस संसार से छूट कर परम सिद्धि को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ॥ इस ज्ञान का आश्रय लेकर, मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए जन, सृष्टि काल में नहीं उत्पन्न होते हैं और प्रलय में दुःखी नहीं होते हैं ॥ १ ॥ २ ॥

(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग इस प्रकार भूतों का कारण है यह कहते हैं:—)

हे भारत, मेरे गर्भाधान का स्थान रूपी योनी, मेरी बड़ी विस्तृत माया है, उसमें मैं, सृष्टि के सङ्कल्प रूप बीज को स्थापन करता हूँ ("एकोहं बहुस्यां प्रजाये" अर्थात् मैं एक हूँ प्रजा रूप से बहुत बनूं, यह सङ्कल्प गर्भाधान है) उस मेरी प्रकृति के तथा मुझ पुरुष के संयोग से (यानी परस्पर के मिले हुए अध्यास से), सर्व (स्थावर जङ्गम) प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ (मैं ईश्वर, अपनी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों प्रकृति रूप शक्ति वाला, अविद्या काम कर्मानुसार, क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र से मिलाता हूँ यह तात्पर्य है) ॥ ३ ॥

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन, सर्व योनियों में, जो शरीर उत्पन्न होते हैं, माया शक्ति उनकी बड़ी उपादान कारण रूप योनी है, मैं निमित्त काण रूप ईश्वर, सृष्टि के बीज को स्थापन करने वाला (यानी संकल्प करने वाला) पिता हूँ ॥ ४ ॥

सत्व रज और तम, यह तीनों प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण हैं, हे महाबाहो अर्जुन, देह में, देह उपाधि वाले अविनाशी आत्मा को (कर्तृत्व भोक्तृत्व दुःख सुख अभिमान से) बाँधते हैं ॥ ५ ॥

हे निष्पाप अर्जुन, उन तीनों गुणों में से, सत्व गुण निर्मल होने से, प्रकाशक (ज्ञान देने वाला) और (रज तम के) दोषों से रहित है, सुख में राग से (कि मैं सुखी हूँ ऐसे) और ज्ञान में राग से (यानी मैं ज्ञानी हूँ ऐसे) बाँधता है ॥ ६ ॥

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन, रजो गुण को तृष्णा और आसक्ति का उत्पन्न करने वाला राग स्वरूप जानों, वह रजो गुण, कर्मों में आसक्ति द्वारा (फल में राग होने से) देह वाले जीवात्मा को बाँधता है ॥ ७ ॥

हे भारत, सर्व देह धारी जीवों को, मोहित करने वाले (अविवेकी बनाने वाले) तमो गुण को अज्ञान से उत्पन्न हुवा जानों, वह प्रमाद आलस्य और निद्रा से बाँधता है ॥ ८ ॥

अब संक्षेप से गुणों के व्यापार को कहते हैं:—

हे भारत अर्जुन, सत्व गुण, सुख में लगाता है, रजो गुण कर्म में लगाता है परन्तु तमो गुण ज्ञान को ढक कर प्रमाद में भी जोड़ देता है ॥ ९ ॥

हे भारत अर्जुन, रजो गुण तमोगुण को दबा कर सतो गुण प्रकट होता हैं और रज, सत्व को दबा कर तमोगुण, तैसे ही तम और सत्व को दबाकर रजो गुण (बढता है) ॥ १० ॥

(जब जो गुण उद्भूत होता है तब उसका क्या लिंग होता है सो कहते हैं:—)

जब इस देह के सब द्वारों में प्रकाश उपजता है (यानी मन इन्द्रियों की चैतन्यता होती है) और ज्ञान (विवेक) उपजता है, तब सत्व गुण बढा हुवा है ऐसा भी जानो ॥ ११ ॥

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन, रजो गुण के बढने पर, लोभ, (कार्यों में लगाव रूपी) प्रवृत्ति यानी व्यवहार, कर्मों का आरम्भ, विक्षेप और तृष्णा सब यह, उत्पन्न होते हैं॥१२॥

हे कुरुनन्दन अर्जुन, तमो गुण के बढने पर अज्ञान और अकर्मण्यता, कर्तव्य का विस्मरण, और अविवेक (अथवा भ्रम) भी यह सब उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

(अब एक एक गुण की बृद्धि के समय मरण होने पर, फल कहते हैं :—)

जब तो देहधारी जीव, सत्व गुण की वृद्धि होने पर, मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उत्तम कर्म उपासना के जानने वालों के, दिव्य निर्मल स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है ॥ रजो गुण में, मरण होने पर, कर्मासक्त लोगों में जन्म पाता है, तथा तमो गुण में, मरा हुवा पुरुष, अज्ञान वाली, पश्वादि योनियों में, उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

सात्विक पुण्य कर्म का, सात्विक (सुख ज्ञान स्वर्गादि) निर्मल फल (वेद) कहते हैं, रज का फल दुःख और तम का फल अज्ञान कहते हैं ॥ १६ ॥

(गुणों से क्या होता है सो कहते हैं: —) सतो गुण से ज्ञान उपजता है और रजो गुण से लोभ भी उपजता है और तमो गुण से प्रमाद मोह और अज्ञान भी उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

सतोगुण में स्थित जन, ऊपर को (उच्च लोकों को) जाते हैं, रजो गुण वाले, मध्य में (मनुष्य लोक में) स्थित होते हैं, और तामसी, नीच गुण वाली वृति में (हिंसा निद्रा प्रमाद में) स्थित जन, नीच गति को प्राप्त होते हैं (पश्वादि चाण्डालादि वा नरकादि भाव को प्राप्त होते हैं) ॥ १८ ॥

जब द्रष्टा, गुणों से अन्य, कर्त्ता को नहीं जानता है (अर्थात् सत्वादि प्रधान बुद्धि ही कर्ता है अन्य नहीं ऐसा जानता है) और गुणों से परे (साक्षि आत्मा अखण्ड अनन्त अद्वैत स्व स्वरूप) परमात्मा को जानता है, वह पुरुष मुझ परमात्म भाव को प्राप्त होता है ॥१९॥

देह वाला पुरुष, देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनों गुणों को उलंघन करके (इन गुणों को कल्पित और इनके द्रष्टा आत्मा को इससे परे जान कर, इन

गुणों को असत् जान कर असंग होकर) जन्म मृत्यु जरा व्याधि से (देह के धर्मों से छुटा हुआ) मुक्त होकर अमर भाव को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अर्जुन ने कहाः — हे प्रभो, इन तीनों गुणों से रहित पुरुष किन लिंगों वाला होता है, उसका क्या आचार होता है और इन तीनों गुणों को कैसे उलंघन करता है ॥ २१ ॥

(अब गुणातीत के लक्षण और गुणातीत होने के उपाय को कहते हैं :—)

हे पाण्डु पुत्र अर्जुन, प्रकाश (यानी सतोगुण) प्रवृत्ति (यानी रजोगुण) और मोह अर्थात् अविवेकादि तमोगुण के, (इन तीनों के अथवा किसी एक गुण के) सम्यक् प्रवृत्त होने पर, उन से द्वेष नहीं करता है (कि मैं सुख से ज्ञान से, दुःख से अथवा मोह से क्यों बँध गया तद्वत्), और (इन में से किसी सत्वादि गुण के निवृत्त होने पर इस चिंता से कि मेरा सुख क्यों जाता रहा, वह मिले, अमुक कार्य क्यों न हुआ हो जाय, इच्छा पूर्ण न हुई वह हो जाय, निद्रा जाती रही सो आने लगे, यह सब ही मुझ को प्राप्त हो जायें इस प्रकार) उन गुणों के निवृत्त हुए, फिर उनकी आकांक्षा नहीं करता है ॥ २२ ॥

(अब गुणातीत का क्या आचार है इस प्रश्न के उत्तर को कहते हैं:—)

जो (आत्म ज्ञानी) उदासीन वत् असंग स्थित हुवा, गुणों के द्वारा (अपनी विवेक दर्शनावस्था से) स्वरूप से चलायमान नहीं होता है, गुण ही वर्तते हैं (कारण कार्य रूप होकर अथवा विरोधी होकर वर्तते हैं, जैसे इन्द्रियाँ विषयों में वर्तती हैं, ज्ञान का अज्ञान निवृत्ति में उपयोग होता है इत्यादि प्रकार से गुणों का वर्तना है) ऐसा समझ कर, जो स्वरूप में स्थित रहता है, निष्ठा से चलायमान नहीं होता है ॥ सुख दुःख में एक आत्मभावापन्न, स्वरूप में स्थित हुवा, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण को एक समान जानने वाला, प्रिय अप्रिय में तुल्य (उपेक्षा वाला) निन्दा स्तुति में एक समान बराबर (निर्विकार चित्त वाला) धीर होता है ॥ २३ ॥ २४ ॥

जो मान अपमान में बराबर है, मित्र और अरि के पक्ष में बराबर है, सर्व (देह धारण मात्र से इतर, प्रवाह पतित न होने वाले, नये नये सवासनीक कार्य रूप) आरम्भ का परित्याग करने वाला है वह गुणातीत कहलाता है ॥ २५ ॥

(अब, किस प्रकार तीनों गुणों को तरता है इस प्रश्न के उत्तर को कहते हैं:—)

और जो पुरुष, मुझ को (मुझ से अन्यत्र न जाने वाली भक्ति की धारणा रूपी) अनन्य भक्ति योग से, (भजता है, अथवा कायक वाचक मानसिक भाव द्वारा ईश्वर उपासना रूप से) सेवन करता है, वह पुरुष, इन तीनों गुणों को उलंघन करके (इन से छूट कर) ब्रह्म स्वरूप से साक्षात्कारवान होने के योग्य होता है ॥२६॥

(विद्वान की जो ब्रह्म प्राप्ति है इस में हेतु कहते हैं कि :—)

अमृत अर्थात् अविनाशी, अव्यय अर्थात् निर्विकार ब्रह्म की और नित्य धर्म रूप ज्ञान योग की और अखण्ड एक रस कैवल्य सुख की, मैं परमात्मा ही प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् स्थिति हूँ (इस लिये इसमें स्थित विद्वान मुझ ब्रह्म में स्थित, ब्रह्म रूप ही हैं) ॥ २७ ॥

इति गुणत्रय विभाग योगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ॥

क्योंकि कर्मियों को कर्मों का फल सुख दुःख देना वा स्वर्गादि देना, तथा ज्ञानियों को ज्ञान का फल कैवल्य मोक्ष देना, मुझ परमेश्वर के आधीन है, इस लिये जब मेरी भक्ति योग से, मेरे उपासक जन, मेरी कृपा से, ज्ञान प्राप्ति द्वारा, गुणातीत पद यानी मोक्ष को प्राप्त होते हैं, तब, आत्म तत्व के सम्यग्दर्शियों का तो कहना ही क्या है ॥ इस वास्ते श्री भगवान, विना अर्जुन के पूछे हुए भी, उसको आत्म तत्व के उपदेश करने की इच्छा से कहते हैं कि "ऊर्ध्व मूल इत्यादि" ॥ इस अध्याय में प्रथम वृक्ष रूप कल्पना से, वैराग के हेतु संसार के स्वरूप का वर्णन करते हैं, क्योंकि विरक्त को ही भगवत तत्व के ज्ञान में अधिकार है, अन्य को नहीं है ॥

श्री भगवान ने कहाः—(काल से सूक्ष्म, कारण रूप, महान होने से सब से उत्कृष्ट ऐसे) ऊर्ध्व (और माया शक्ति वान अव्यक्त ब्रह्म रूप ऐसे) मूल वाले, नीचे, (महतत्व अहंकार तन्मात्रादिक) शाखा वाले, कल तक न ठहरने वाले संसार रूप पीपल के वृक्ष को, (अनादि काल से प्रवृत होने से, श्रुतिवाद से और लोक प्रसिद्धि

से, संसारी जन) अविनाशी कहते हैं, (संसार के भोग, स्वर्गादि के निरूपण करने से शोभायमान) वेद, जिसके पत्ते हैं, उसको, जो पुरुष जानता है (कि संसार वृक्ष मिथ्या है इसका मूल परमात्मा मेरा स्वरूप सत्य है) वह वेद को जानने वाला है (यथावत् तत्व को जानता है)॥१॥

उस संसार रूप वृक्ष की, सत्वादि गुण रूपी जल सींचन से बढी हुई, शब्दादि विषय रूपी कलियों वाली, देव मनुष्य स्थावर जङ्गम योनी रूप शाखायें, स्वर्ग नरकादि ऊपर नीचे लोकों में, फैली हुई हैं, और नीचे कर्मों के अनुसार बाँधने वाली मानसी वासना रूपी वे अनन्त परस्पर उलझी हुई छोटी जड़ें, मनुष्य शरीर में, फैली हुई हैं ॥ २ ॥

इस संसार वृक्ष का, वैसा सत्य रूप, यहाँ विचार स्थल में, ज्ञात नहीं होता है, न उसका आदि है न अन्त है (अर्थात् यह ज्ञात नहीं कि कब से यह अज्ञान रचित असत्य कल्पित संसार भान हो रहा है और कब तक रहेगा) और न उसकी सम्यक् स्थिति है (देखते देखते नष्ट हो जाता है), इस अत्यन्त दृढ मूल वाले (अहंकार युक्त वासना रूपी जड़ वाले) संसार रूपी पीपल वृक्ष को, दृढ असंगता रूपी शस्त्र से समूल काट कर, ॥ पीछे वह पद खोजने योग्य है जिसमें जाकर फिर लौट कर पीछे

नहीं आते हैं, (इस भाव सहित कि) मैं उस आदि पुरुष की ही शरण को प्राप्त होता हूँ, जिससे अनादि संसार प्रवृत्ति फैली है ॥ ३ ॥ ४ ॥

(मुमुक्षु, कैसे होकर उस पद को प्राप्त होता है सो कहते हैं:—)

मान और मोह से रहित, जीत लिये सँग के दोष जिन्होंने (आसक्ति और संसर्ग के दोषों से रहित) नित्य आत्म चिन्तन परायण, विशेषतः निवृत्त होगईं कामना जिनकी, ऐसे ज्ञानवान पुरुष, सुख दुःख नामक द्वन्दों से छुटेहुए जन, उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं॥५॥

(वह पद क्या है उसको कहते हैं:—)

उस परम पद को, सूर्य नहीं प्रकाशता है (क्योंकि असमर्थ है), न चन्द्रमा न अग्नि (प्रकाशने में समर्थ है) जिसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर कर नहीं आते हैं, वह मेरा परम मोक्ष स्थान है (आत्मा सब सूर्यादिक ज्योतियों का प्रकाशक स्वयं ज्योति विज्ञानमय पुरुष है वही परम धाम है)॥ मेरा ही अंश (अंशवत् कल्पित, जैसे जलपूरित घट में सूर्य का आकाश होता है तद्वत् परमात्मा स्वयं) जीवलोक में (संसार में) सनातन जीवरूप होकर प्रकृति में स्थित छटे मन वाली पांचों इन्द्रियों को, (जीवन व्यवहार के लिये) आकर्षण करता है यानी खींचता है ॥६॥७॥

जैसे वायु, गंधों को अपने पुष्पादि स्थान से ले जाती है, वैसे ही, देह का ईश्वर रूप जीवात्मा, भी इन मन सहित इन्द्रियों को साथ लेकर, जिस शरीर को प्राप्त होता है और जिसको त्यागता भी है, उनमें आता जाता है ॥ ८ ॥

यह जीवात्मा, श्रोत्र, चक्षु त्वचाइन्द्रिय, रसना और घ्राण और मन, इन सबका अधिष्ठान होकर (स्वामी अभिमानी होकर इनके आश्रय से) विषयों को, भोगता है ॥ ९ ॥

एक शरीर को छोड़ कर जाते हुए को अथवा स्थित हुए को भी और भोगते हुए को अथवा गुणों से युक्त भी, (जीवात्मा को) अज्ञानी जन नहीं जानते हैं, ज्ञान रूपी नेत्रों वाले लोग ही जानते हैं ॥ १० ॥

यत्न करते हुए योगी ही, (ध्यान निष्ठ होकर) इस आत्मा को, हृदय में स्थित, (कूटस्थ साक्षि रूप से अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा) देखते हैं (अर्थात् स्व स्वरूपत्वेन कैवल्य रूप से साक्षात्कार करते हैं) वे समझ निर्बुद्धि जन, (तप और इन्द्रिय जय द्वारा, दुश्चरितों से निवृत्ति पूर्वक, जिन्होंने अन्तः करण शुद्ध नहीं किये ऐसे) आत्मोद्धार से रहित जन, यत्न करते हुए भी (श्रवणादि करते हुए भी) इस आत्मा को, नहीं

अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं ॥ ११ ॥

जो आदित्य में वर्तमान तेज, संपूर्ण जगत को प्रकाशता है, जो तेज चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है वह तेज मेरा ही जानों ॥ १२ ॥

और मैं पृथवी में प्रवेश करके भूतों को अपने तेज (शक्ति) से धारण करता हूँ और रस रूप सोम होकर, संपूर्ण औषधियों को पुष्ट करता हूँ॥ १३ ॥

मैं, वैश्वानर अग्नि, होकर, प्राणियों के देह में स्थित हुवा, प्राण अपान से सम्यक् युक्त होकर, चारों प्रकार के अन्न को (भक्ष्य भोज्य लेह्य चोष्य को) पचाता हूँ ॥ १४ ॥

और (अन्तर्यामी रूप से) मैं सब के हृदय में सम्यक् स्थित हूँ, मुझ से ही, स्मृति, ज्ञान, और विस्मृति (रूप क्रिया) होती हैं, और सब वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, वेदान्त का रचने वाला और वेद का जानने वाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

इस संसार में क्षर अर्थात् मूर्त विनाशी, और अक्षर अर्थात् अमूर्त अविनाशी भी ऐसे दो पुरुष हैं, सर्व भूत समुदाय क्षर (अर्थात् मूर्त्त व्यक्त विनाशी क्षेत्र रूप) है और कूटस्थ (अर्थात् अमूर्त्त अव्यक्त माया शक्तिवान् अथवा परिछिन्न जीवात्मा) अक्षर कहलाता है ॥ (परन्तु

इन दोनों को सोपाधिक अनित्य होने से) उत्तम पुरुष तो दूसरा ही है, परमात्मा नाम से कहा गया है, जो तीनों लोकों में समा कर धारण पोषण करता है, अविनाशी ईश्वर है ॥ १६ ॥ १७ ॥

क्योंकि, मैं क्षर से अतीत अर्थात् पृथक हूँ और अक्षर से (जब तक ज्ञान न हो तब तक अविनाशी माने हुए, माया अथवा जीव से) भी उत्तम हूँ, इस वास्ते लोक में और वेद में, मैं पुरुषोत्तम कहा गया हूँ ॥ १८ ॥

हे भारत, जो, विवेकी, मुझ ही को पुरुषोतम जानता है, वह (सर्वात्म रूप से) सब को वासुदेव रूप जानने वाला, सब प्रकार से मुझ को भजता है ॥ १९ ॥

हे निष्पाप अर्जुन, यह अत्यन्त गुह्य शास्त्र मैंने कहा हैं, हे भारत, इसको जान कर, मनुष्य, बुद्धिमान और कृतार्थ (पूर्ण काम) हो जाता है ॥ २० ॥

इति पुरुषोत्तम योगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ षोडशोऽध्याय ॥

श्री भगवान ने कहा :—अभय अर्थात् भय का न होना, अन्तः करण की सम्यक् शुद्धि (अर्थात् ठगी, माया, मिथ्या संभाषणादि से रहित शुद्ध भाव से व्यवहार का होना) आत्म ज्ञान निष्ठा, (सत्पात्र के प्रति सात्विक) दान, इन्द्रियों का विषयों से निरोध, (द्वादश यज्ञों में से एक का वा सब का अनुष्ठान रूप) यज्ञ, (नित्य संहिता का अथवा उपनिषदादिक का पाठ अथवा अर्थ चिन्तन रूप) स्वाध्याय, (कायक वाचक मानसिक तप अथवा मन इन्द्रियों की एकाग्रता अथवा सत्य, उपवासादिक अथवा स्व स्व धर्म पालन रूप) तप और मन की सरलता ॥ अहिंसा अर्थात् मन वाणी शरीर से किसी को पीड़ा न देना, सत्य अर्थात् यथावत् भाषण (परन्तु हिंसा रहित), क्रोध का शमन, त्याग (अहंकार और इच्छा का त्याग), शान्ति अर्थात् रजो तमो भाव का न होना, पैशुन्य का न होना (यानी पीठ पीछे निन्दा चुगली न करना), प्राणियों में दया, लालसा प्रलोभ का न होना, कोमलता (मन वाणी की मृदुता), बुरे कामों से लज्जा, चपलता का न होना ॥ तेज (यानी

प्रभाव डालने वाला मुख का आकार विशेष), क्षमा अर्थात् पर अपराध की सहज ही उपेक्षा कर देना यानी सहन शीलता, धीरज, अन्तर हृदय और बाहर शरीर आचारादिकों की शुद्धि, पर घात का (शत्रु की हत्या के विचारादि का) न होना, अधिक मान का न होना, हे भारत, यह लक्षण, दैवी संपत्ति को लेकर जन्म लेनेवाले पुरुषों के होते हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दंभ (धर्मादिक गुणों को पर जनों में बढा कर दिखाना), दर्प (अर्थात् आचार्यत्व, प्रभुता और गुणवानता के अपने में आरोप से, पर जनों के तिरस्कार का स्वभाव) अभिमान और क्रोध तथा वाणी की कठोरता और अज्ञान, (यह अवगुण) हे पार्थ, आसुरी संपत्ति (गुण स्वभाव की संप्राप्ति) को लेकर, जन्म वाले पुरुषों के होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी, संपदा, मोक्ष के लिये, (और) आसुरी संपदा, बंधन के लिये मानी गई है, हे पांडव, तू शोक मत कर, तू ने दैवी संपदा को लिये हुए, जन्म पाया है ॥ ५ ॥

इस संसार में, देवता और असुरों वाली दो प्राणियों की उत्पत्तियाँ हैं, दैव स्वभाव विस्तार से कथन किया जा चुका है, हे पार्थ, असुर स्वभाव को, मुझ से (विस्तार पूर्वक अब) सुन ॥ ६ ॥

असुरजन, कर्तव्य विधान को, और निषेध्य के त्याग को नहीं जानते हैं, उन असुरों में, न अन्तर बाहर की शुद्धि होती है, न (शास्त्र और सज्जनों के अनुसार) शुभाचरण भी होता है और न सत्य(भाषण व्यवहारादिक)होता है॥७॥

वे असुर, जगत् को सत्यता से वर्जित (यानी झूठ कपट वाला), धर्माधर्म मर्यादा से रहित, विना ईश्वर का, (कहते हैं), परस्पर स्त्री पुरुष के संयोग से जन्य, काम भोग के ही वास्ते है और क्या है (अन्य धर्माधर्म निमित्त कुछ नहीं है) यह कहते हैं ॥ ८ ॥

इस दृष्टि का आश्रय लेकर, भ्रष्ट स्वभाव वाले अल्प बुद्धि वाले(असुर जन) कठोर कर्मों वाले, जगत् के अपकार करनेवाले, जगत् के विनाश के लिये, उत्पन्न होते हैं॥९॥

दंभ मान और मद से युक्त पूर्ण न हो सकने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से अशुभ निश्चय वाली भावनाओं को, ग्रहण करके, अपवित्र आचरण वाले, असुर जन, (संसार में) प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

मरण पर्यन्त, वे अनन्त चिन्ता का आश्रय लिये हुए, विषयों के उपभोग परायण, इतना मात्र ही है, ऐसे निश्चय वाले हैं ॥ ११ ॥

सैकडों आशा रूपी फांसियोंसे बंधे हुए, काम क्रोध परायण हुए, कामनाओं के भोगने के लिये, अन्याय से

धनादि पदार्थों को एकत्र करने की, चेष्टा प्रयत्न करते हैं॥ मैं ने अब यह प्राप्त किया, इस मनोर्थ को मैं प्राप्त होऊँगा, यह धन मेरा है, फिर यह भी हो जावेगा ॥१२॥१३॥

यह शत्रु मैंने हनन किया औरों को भी हनन करूंगा, मैं सामर्थ्य वान हूँ, ऐश्वर्य का भोगने वाला हूँ, मैं सर्व संपन्न हूँ, बलवान हूँ और सुखी हूं ॥ १४ ॥

मैं धनादिक संपन्न होनेसे माननीय हूँ, कुटम्ब वाला हूं, मेरे समान दूसरा कौन है, यज्ञ करूंगा, दान दूँगा, आनन्द मँनाऊँगा, इस प्रकार, अज्ञानसे मोहित हैं॥१५॥

अनेक संकल्पों से भ्रान्त चित्त वाले, मोह जाल में फँसेहुए, विषय भोगों से आसक्त हुए, बड़े अपवित्र नरकों में गिरते हैं ॥ १६ ॥

अपने आपको बहुत बड़ा माननेवाले, नम्रता से रहित, धन के और मान के मद से युक्त हुए, वे, असुर, अविधि पूर्वक, दंभ से, नाममात्र यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं॥१७॥

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के परायण हुए, अपने और पराये देहों में विद्यमान, मुझ परमात्मा से ही द्वेष करते हुये, और गुणों में दोष दर्शन पूर्वक, निन्दा करते हुए ॥ १८ ॥

उन द्वेष करने वाले, कठोर कर्म करने वाले, संसार में अधम नरों को, मैं, शीघ्र ही, असुरों वाली, अशुभ

योनियों में, फेंकता हूँ ॥ १६ ॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, वे मूढ पुरुष, जन्म जन्म में असुरों वाली योनी को प्राप्त होकर, मुझ को न प्राप्त होकर, उस से भी नीच गति को प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

(सर्व अनर्थों के मूल रूप यह तीन दोष कहते हैं जिनके निवृत्त होने से सब दोष निवृत्त हो जाते हैं:—)

काम क्रोध तथा लोभ, यह तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं आत्मा के नाश करने वाले हैं (अर्थात् पुरुषार्थ से भ्रष्ट करके दुर्गति को प्राप्त करने वाले हैं इस लिये इन तीनों को परित्याग करो ॥ हे कुन्ति पुत्र अर्जुन, पुरुष, (अज्ञान नरक रूप) तम के इन तीनों द्वारों से छूटा हुआ, अपने आत्मा के (कल्याण के लिये) उद्धार का आचरण करता है, उससे परम गति को (परमात्मा रूप मोक्ष को) प्राप्त होता है ॥ जो पुरुष, शास्त्र की विधि को त्याग कर, अपनी इच्छा से वर्तता है वह पुरुष न पुरुषार्थ की सफलता को प्राप्त होता है न सुख को प्राप्त होता है (यहां संतोष को नहीं प्राप्त होता है), न परम गति रूप मोक्ष (अथवा स्वर्ग को ही) प्राप्त होता है (यानी शरीर नाश के पीछे भी दुर्गति है) ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

इस वास्ते तेरे लिये, कर्तव्य अकर्तव्य के निर्णय में, शास्त्र प्रमाण है (अर्थात् जानने का साधन है) शास्त्र में

नियत किये हुए कथन को जानकर (समझ कर ही) तुझे यहाँ संसार में कर्म करना उचित है ॥ २४ ॥

इति दैवासुर संपद विभाग योगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

अर्जुन ने कहा :—जो मनुष्य शास्त्र की विधि को छोड़ कर (बे परवाही से नहीं किन्तु वे शास्त्र विधि को जानते नहीं हैं इसलिये) श्रद्धा से युक्त हुए, यज्ञ अथवा पूजन करते हैं, हे कृष्ण, उनकी कैसी निष्ठा है, सात्विक है अथवा राजस है अथवा तामस है ? ॥ १ ॥

श्री भगवान ने कहा :—देह वालों की, वह श्रद्धा, प्रकृति से उत्पन्न हुई, तीन प्रकार की हैं, यानी सात्विकी, राजसी और तामसी भी होती है, उनको सुनो ॥ २ ॥

हे भारत, सब मनुष्यों की श्रद्धा, उनके अन्तःकरण के अनुसार होती है, यह पुरुष श्रद्धा स्वरूप ही होता है, जो जिस श्रद्धा वाला है, वह वही है ॥ ३ ॥

(अब देवपूजनादि कार्यों से श्रद्धाका अनुमान करतेहैं:-)

सात्विक पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं, रजो गुणी जन यक्ष राक्षसों का पूजन करते हैं, और दूसरे

तामसी प्रकृति वाले जन, प्रेत गणों और भूत गणों का पूजन करते हैं ॥ ४ ॥

जो मनुष्य, धर्म शास्त्र की विधि से रहित; कठोर तामसी तप को तपते हैं, दंभ अहंकार सहित, काम राग और बल से युक्त होकर ॥ (वे समझ) निर्बुद्धि जन, शरीर में स्थित करण समुदाय को, और उनके अन्तर अधिष्ठान रूप से स्थित मुझ आत्मा को भी, पीड़ा देते हुए (तामसी तप को तपते हैं) उनको, असुरों के निश्चय वाले जानो ॥ (इससे दूसरे प्रकार के शास्त्र विधि से किये हुए तप, सकाम किये गये हों तो राजसी जानो, और निष्काम अन्तःकरण की शुद्धि के लिये किये हुए वे तप सात्विक हैं यह सिद्ध हुवा) ॥ ५ ॥ ६ ॥

आहार भी सब का (अपने अपने सात्विक, राजस तामस स्वभाव के अनुसार) तीन प्रकार का प्रिय होता है, इसी प्रकार यज्ञ, तप और दान होते हैं, उनके इस भेद को सुनो ॥ ७ ॥

आयुष, ज्ञान, बल, आरोग्यता, सुख और रुचि को बढाने वाले, रसीले, चिकने, पुष्टि देने वाले, मनोहर, ऐसे भोजन, सात्विक प्रकृति वाले जनों को प्रिय होते हैं ॥ (इस कथन का यह प्रयोजन नहीं है कि ऐसा आहार प्रयत्न से संपादन करने योग्य है किन्तु तात्पर्य्य यह है

कि सात्विक जनों की ऐसे आहार में रुचि होती है; सहज में न मिले तो, जो मिले, शास्त्र से जिसका निषेध न हो, वह अन्न, और आपत्ति काल में तो जो भी मिले अपने मानसी प्रमाद को पहिचान कर, केवल देह रक्षार्थ लिया अन्न, ईश्वरार्पण करके, खाया हो, वह सात्विक ही होता है) ॥ ८ ॥

अति कटु, अति अम्ल, लवण, (अधिक खट्टे अधिक नमक वाले) अधिक गर्म, अति तीखे (चरपरे), रूखे और दाह उत्पन्न करने वाले (भुने चने आदिक) ऐसे भोजन, राजस स्वभाव वाले मनुष्यों को अच्छे लगते हैं, दुःख शोक और रोग को देने वाले होते हैं ॥ ९ ॥

जो भोजन, (कुछ कच्चे कुछ पक्के अथवा) पहर भर से अधिक रखे हुए, जो गर्मी में सड़ जाते हैं ऐसे हैं, रस जिनका सूख गया, दुर्गन्ध वाले और बासी, उच्छिष्ट (झूठन बचे हुए) अपवित्र भी (यानी जिनको ब्रह्मार्पण नहीं किया गया जो किसी प्रकार भी यज्ञ के शेष नहीं हैं) जो ऐसे भोजन हैं वे, तामसी प्रकृति वाले जनों को प्रिय होतेहैं (बहुधा कोई २ स्त्रियां, शुद्र तथा बालक ऐसे आहार में रुचि वाले होते हैं) ॥ १० ॥

जो यज्ञ, शास्त्र विधि को देख कर, यज्ञ तो करना ही है, मन को ऐसे समाधान करके, (फल की इच्छा न

रखने वाले) निष्काम पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह सात्विक है ॥ ११ ॥

परन्तु हे भरत श्रेष्ठ, जो यज्ञ, फल की इच्छा को लेकर, और दंभार्थ (धर्मात्मा कहलाने के लिये) भी किया जाता है उस यज्ञ को राजसी जानों ॥ १२ ॥

शास्त्र विधि से रहित, विन अन्न दान के, मन्त्रहीन और बिना ब्राह्मणादिकों को दक्षिणा दिये हुए, श्रद्धा से विहीन (कर्तव्य दृष्टि से रहित, देखा देखी अथवा किसी प्रेरणा से किये) यज्ञ को तामस कहते हैं ॥ १३॥

(अब सात्विकादि तप के, शारीरक, वाचक और मानसिक भेद से तीन प्रकार के तपों को कहते हैं:—)

देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन, (अन्न तथा आहार व्यवहार की शुद्धि से तथा जल मृत्तिकादि से) पवित्रता, सरलता (बनावट न होना); शास्त्रीय आज्ञा से अतिरिक्त वीर्य त्याग का अभाव और ताड़नादि से पीड़ा न देना, यह शरीर का तप कहलाता है ॥१४॥

जो वाणी उद्वेग से रहित है, सत्य है प्रिय और हितकारी है वह बोलना और स्वाध्याय का अभ्यास भी, वाणी का तप कहलाता है ॥ १५ ॥

मन की प्रशान्ति, कोमलता, सङ्कल्प विकल्प का अभाव रूपी मौन, मन इन्द्रियों का निरोध, भाव की

सम्यक् शुद्धि (निष्कपटता) ऐसा यह सब मानस तप कहलाता है ॥ १६ ॥

वही तीन प्रकार का तप, पुरुषों द्वारा, परम श्रद्धा से, तपा हुआ, फल की इच्छा से रहित योगियों से किया हुवा, सात्विक कहलाता है ॥ १७ ॥

जो तप, सत्कार मान और पूजा के वास्ते, और दंभ से भी, किया जाता है, वह यहाँ राजस कहलाता है, शीघ्र नाशमान फल वाला है, अनिश्चित है ॥ १८ ॥

मूर्खता के हठ से, अपनी पीड़ा सहन करके, अथवा पर के नाशार्थ जो तप किया जाता है, वह तामस तप कहा गया है ॥ १९ ॥

दान देना आवश्यक है, इस भावना से, जो दान, अनुपकारी को, (सांसारिक सहायता की लालसा को न सोच कर) यथावत् देश काल में, यथावत् पात्र के प्रति, दिया जाता है, वह दान सात्विक कहलाता है ॥ २० ॥

और जो दान, उल्टे उपकार के लिये, अथवा पुनः फल को मन में रख कर, और क्लेशमान कर दिया जाता है वह दान राजस कहलाता है ॥ २१ ॥

बिना उचित स्थान के, बे समय, जो दान, कुपात्र अथवा अनधिकारी को, दिया जाता है, जो बिना सत्कार के, तिरस्कार पूर्वक दियाजाता है वह तामस दान कहागया है॥२२॥

ॐ तत् सत् ऐसे तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा है, उसी से, पहले सृष्टि के आरम्भ के समय, ब्राह्मण वेद और यज्ञादिक रचे गये हैं ॥ २३ ॥

इस लिये निरन्तर 'ओम्', यह उच्चारण करके, वेद वक्ताओं की, शास्त्रानुसारी यज्ञ दान और तप रूप क्रियाओं का आरम्भ होता है ॥ २४ ॥

(ओम् के साथ) तत् इस नाम के उच्चारण पूर्वक फल की इच्छा न करते हुए, मुमुक्षु जन, यज्ञ तप की क्रियाओं और दान की नाना प्रकार की क्रियाओं को, करते हैं ॥२५

(ॐ तत् के साथ भी) सद्भाव में अर्थात् श्रद्धा युक्त और साधु भाव में (उचित जान कर) सत् ऐसे इस शब्द के उच्चारण का प्रयोग होता है (कि हां यह बात ठीक है यह कार्य उचित है सत् है, सद्वचन महाराज! सत्कार्य हुवा, इत्यादिक जानना) और हे पार्थ, उत्तम कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञ तप और दान में स्थिति सत है ऐसे कहलाती है और उस विष्णु के अर्थ किया हुवा कर्म भी, सत् है ऐसे कहा जाता है ॥ २७ ॥

श्रद्धा हीन होकर, जो, होम किया जाता है, दान दिया जाता है, तप तपा जाता है और जो कर्म किया जाता है, हे पार्थ, वह असत् कहलाता है, न वह, यहाँ (यश

देने वाला है) न परलोक में सफल होता है ॥ २८ ॥

इति श्रद्धा त्रय विभाग योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

श्रीकृष्णार्पण मस्तु ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः॥

अथाष्टादशोऽध्यायः ॥

संपूर्ण ही गीता शास्त्र का अर्थ इस अध्याय में एकत्र करके, संपूर्ण ही वेदों का वक्तव्य अर्थ मानों इस अध्याय में कह दिया ॥ सर्व पिछले अध्यायों में कहा हुवा अर्थ, इस अध्याय से जाना जाता है ॥ अर्जुन ने संन्यास और त्याग शब्दों के अर्थों के भेद को न जानकर ही जानने की इच्छा से प्रश्न किया है ॥ पीछे जहाँ जहाँ त्याग और संन्यास शब्द आये हैं वहाँ उनके पृथक् पृथक अर्थ नहीं किये गये, इस वास्ते, निर्णय करने के लिये श्री भगवान से अर्जुन पूछता है :—

अर्जुन ने कहा :—हे महान भुजा धारी श्री कृष्ण भगवान, हे हृषीकेश, हे केशीदैत्य को मारने वाले, मैं अलग अलग आपसे, संन्यास के स्वरूप को और त्याग के स्वरूप को जानने की इच्छा करता हूँ ॥ १ ॥

श्रीभगवान ने कहा :—ज्ञानी कविजन, काम्य कर्मों

के (स्वरूप और फल के) त्याग को संन्यास कहते हैं और पंडित दीर्घदर्शी पुरुष, शास्त्रीय सर्व कर्मों के फल के त्याग को (स्वरूप से अनुष्ठान परन्तु फल मात्र के त्याग को) त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

कई एक विद्वान, कहते हैं कि दोष वाले कर्म त्यागने योग्य हैं, और दूसरे कहते हैं कि यज्ञ दान और तप त्याज्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन, उस त्याग में मेरा निश्चय सुनों क्योंकि, हे पुरुषों में सिंह, यानी शूरवीर, अर्जुन, त्याग (सात्विकादि भेद से) तीन प्रकार का कहा गया है ॥४॥

यज्ञ दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, वह करने योग्य ही हैं यज्ञ दान और तप भी, बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं ॥ ५ ॥

यह कर्म भी तो, संग यानी अभिमान को और फलों को त्याग कर करना योग्य है, हे पार्थ, यह मेरा निश्चय किया हुवा उत्तम मत है ॥ ६ ॥

शास्त्रविहित कर्म का संन्यास तो बनता ही नहीं है, मोह से उसका परित्याग, तामस त्याग कहागया है॥७॥

दुःख ही है, यह कह कर जो पुरुष शरीर के क्लेश के भय से, कर्म को त्याग देता है वह पुरुष राजस त्याग करके त्याग के फल को नहीं पाता है ॥ ८ ॥

हे अर्जुन, "कर्तव्य ही है" ऐसा मान कर जो, शास्त्र विधि से नियुक्त कर्म, संग अर्थात् अभिमान को और फल को भी छोड़कर, किया जाता है, वह त्याग सात्विक माना हैं ॥ ६ ॥

कर्म फल का त्यागी, शुद्ध अन्तःकरण युक्त, संशय जिसके नष्ट हो चुके (आत्म स्वरूपावस्थान ही परं कल्याण का साधन है अन्य नहीं है इस निश्चय से जिसके संशय सब छूट गये) मेधावान ऐसा ज्ञानी पुरुष, (हमको क्या है यह समझ कर) अकल्याण कारी काम्य कर्म से द्वेष नहीं करता है और कल्याण कारी कर्म में भी (प्रयोजनाभाव समझ कर) आसक्त नहीं होता है ॥ (ऐसा पुरुष निष्क्रिय आत्मा का जानने वाला "सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते" अर्थात् सर्व कर्मों को मन से त्यागकर स्वरूप निष्ठ रहता है यह पूर्व कहचुके हैं)॥१०॥

क्योंकि, देह धारी पुरुष से संपूर्ण कर्मों का त्याग होना संभव नहीं है (इससे) जो पुरुष तो कर्म फल का त्यागी है वह त्यागी है ऐसा कहा जाता है ॥ ११ ॥

फल के त्यागने वाले (सकाम) मनुष्यों को, मर कर, अच्छा, बुरा, और मिश्रित तीन प्रकार का फल होता है परन्तु निष्काम परमार्थ दर्शी जनों को, कभी भी नहीं होता है ॥ १२ ॥

कर्मों की समाप्ति करने वाले वेदान्त शास्त्र में, सर्व कर्मों की सफलता रूप सिद्धि के लिये, यह पाँच कारण, कहे हैं, हे महाबाहो अर्जुन, मुझ से, अच्छे प्रकार जानलो (समझलो) ॥ १३ ॥

इस प्रसंग में, अधिष्ठान अर्थात् शरीर, और कर्ता (जीव) और अलग अलग इन्द्रिय अन्तःकरण, और नाना प्रकार की न्यारी न्यारी प्राण अपान की चेष्टाएँ, वैसे ही पाँचवा ईश्वर है (अथवा दैव रूप अदृष्ट पाँचवा कारण है) ॥ १४ ॥

मनुष्य मन वाणी और शरीर से न्याय युक्त अथवा अन्याय से, जो कर्म करता है, उस कर्म के यह पाँचों, कारण हैं ॥ १५ ॥

परन्तु उस प्रसंग में, ऐसे (कर्मों के ५ हेतु) होने पर, जो पुरुष, केवल आत्मा को कर्ता जानता है, वह मलिन मति वाला पुरुष, अशुद्ध बुद्धि वाला होने से, (यथावत्) नहीं जानता है ॥ १६ ॥

जिसे अहंकार का भाव नहीं है (अथवा दूसरा अर्थ यह है कि जिसका भाव रूप सत् आत्मा अहंकार के अध्यास वाला नहीं है, तात्पर्य एक ही है) जिसकी बुद्धि (कर्तृत्व भोक्तृत्व से पुण्य पाप से) लिप्त नहीं होती (कि यह पुण्य मैंने क्यों न किया पाप क्यों किया) वह (लोक

दृष्टि से) इन लोकों को हनन करता हुवा भी (अपनी परमार्थ शील अकर्ता आत्मा दृष्टि से) न हनन करता है न (पुण्य पाप रूप) बंधन को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता यह तीनों मिलकर, तीन प्रकार के कर्म के प्रेरक हैं, अन्तः करण इन्द्रिय रूप करण, शुभाशुभ कर्म और जीव रूप कर्ता, यह तीनों प्रकार का, (मिलकर) कर्म का संग्रह है (अर्थात् यह तीनों ही मिल कर कर्म को सम्यक् ग्रहण करते हैं तब कर्म का संग्रह यानी संयोग होता है) ॥ १८ ॥

ज्ञान कर्म और कर्ता भी सात्विकादि गुणों के भेद से, सांख्य शास्त्र में तीन प्रकार के कहे हैं, उनको भी, यथावत् सुनों ॥ १९ ॥

(अब तीन प्रकार के ज्ञान को कहते हैः—)

जिस ज्ञान से, जुदा जुदा सब भूत प्राणियों में, निर्विभाग सम एक अविनाशी, आत्म सत्ता, दीखती है (जानी जाती है), उस ज्ञान को सात्विक जानों ॥२०॥

परन्तु जो ज्ञान, सर्व प्राणियों में, जुदा जुदा प्रकार के, जुदा जुदा भावों को, जुदा जुदा जानता है, उस ज्ञान को राजस जानों ॥ २१ ॥

परन्तु जो ज्ञान, एक (शरीर वा प्रतिमा रूप) कार्य में, संपूर्णता की न्याईं, राग अथवा अभिमान से युक्त,

और अयुक्त, विपरीत अर्थ वाला और अल्प है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥ (शरीर को ही ईश्वरवत् सब कुछ मानना यह अभिमान असुर भाव है सो वेदान्त में प्रसिद्ध है, "देहात्म बुद्धिजं पापं न तद्ध गोवद्ध कोटिभिः" अर्थात् देह को आत्मा जाननेका पाप कोटि गोघात से भी अधिक है, यह शास्त्र प्रमाण है, और प्रतिमा के विषय में भी कहा है "प्रतिमा स्वल्प बुद्धिनां सर्वत्र समदर्शिनाम्" प्रतिमा मात्र में ईश्वरता अल्प मति वालों को होती है, समदर्शियों का ईश्वर सर्वत्र होता है, जो ज्ञानी जन लोक संग्रहार्थ प्रवृत्त होते हैं उन महापुरुषों का यहाँ प्रसंग नहीं है) ॥ २२ ॥

(अब सात्विकादि भेदसे तीन प्रकारका कर्म कहते हैं:-)

शास्त्र विधि के अनुसार नियत, अभिमान रहित, राग द्वेष से रहित, निष्काम पुरुष द्वारा किया हुवा जो कर्म है, वह सात्विक कहलाता है ॥ २३ ॥

सकाम पुरुष द्वारा, बहु परिश्रम वाला, अथवा पुनः अहङ्कार से जो कर्म किया जाता है वह राजस कर्म कहा गया है ॥ २४ ॥

परिणाम को, हानि को, स्व पर पीड़ा को (अथवा घात को) और पुरुषार्थ को, न विचार कर, अविवेक से, जो कर्म किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥२५॥

(अब सात्त्विकादि गुण के भेद से तीन प्रकार के कर्ता को कहते हैंः—)

आसक्ति से रहित, अहंकार की बात न कहने वाला, धीरज और उत्साह संयुक्त, सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार (लाभ अलाभ में समान) कर्ता, सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

रागवान्, सकाम, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र, हर्ष शोक युक्त कर्ता, राजस कहलाता है ॥ २७ ॥

असमाहित, मूढ, नम्र भाव से रहित, शठ अर्थात् मायावी, कृतघ्न अथवा पराई आजीविका का नाश कर्ता, आलसी, शोकातुर स्वभाव वाला, और थोड़े समय में होने वाले कार्य में बहुत समय लगाने वाला (यानी जो माठा मनुष्य है) ऐसा कर्ता तामसी कर्ता कहलाता है ॥ २८ ॥

बुद्धि के और धृति के भी, सात्त्विकादि गुणों के अनुसारी, तीन प्रकार के भेद को, हे धनंजय, जो मैं जुदा जुदा संपूर्ण कहूँगा, उसको, तुम सुनो ॥ २६ ॥

हे पार्थ, जो बुद्धि, प्रवृत्ति को और निवृत्ति मार्ग को कर्तव्य कर्म को और न करने योग्य कर्म को भय को और भय के अभाव को, (इस में भय है अमुक कार्य में वा स्थान में कोई भय नहीं है इसको) बंध और मोक्ष को, स्वरूप से जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

जिस बुद्धि से, धर्म को, अधर्म को, कर्तव्य को तथा अकर्तव्य को भी यथावत् नहीं जानता है (किन्तु घटा बढा कर जानता है) हे पार्थ, वह बुद्धि राजसी होती है ॥३१॥

हे पार्थ, जो बुद्धि तम से आच्छादित हुई अधर्म को धर्म (अथवा धर्म को अधर्म मानती है) और संपूर्ण अर्थों को विपरीत (अत्यन्त विरूद्ध भाव से) मानती है वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

(अब धृति के तीन प्रकार के भेद सुनोः—)

हे पार्थ, समाहित होकर जिस एक रस धारणा से, मन प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण किया जाता है, वह धारणा सात्विकी है ॥ परन्तु हे पार्थ, फल की इच्छा वाला पुरुष, आसक्ति पूर्वक, धर्म काम और अर्थों को, जिस धारणा से धारण करता है वह धारणा राजसी है ॥ हे पार्थ, जिस धारणा से, मलिन मति वाला पुरुष स्वप्न को (निद्रा को) भय को, शोक को, खेद को और मद को भी, नहीं छोडता हैं, वह धारणा तामसी है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

(अब सुख के त्रिविध भेद को कहते हैंः—)

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन, अब तीन प्रकार के सुख को भी मुझ से सुनो जिस सुख में (विवेक द्वारा) रमण करता है और (नित्य सुख में स्थित होकर) दुःखाभाव

को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

जो सुख, पहले साधन काल में, विषवत् है (दुःखात्मक प्रतीत होता है) और फल काल में (परिश्रम की पूर्णता होने के समय) अमृत के तुल्य है, वह, आत्म ज्ञान की कृपा से उत्पन्न हुवा, सुख, सात्विक कहा है ॥ ३७॥

जो सुख, विषय और इन्द्रियों के संबंध से, प्रथम भोग काल में अमृत के तुल्य (प्रतीत होता) है और पीछे (रोग दुःख पाप पश्चातापादिक के समय) परिणाम में, विषवत् ज्ञात होता है, वह सुख, राजस कहा है ॥ ३८ ॥

जो सुख प्रथम (सेवन काल में) और परिणाम में भी, आत्मा अर्थात् अन्तः करण को भ्रान्त करने वाला है, निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न वह सुख तामस कहा है ॥ ३९ ॥

पृथवी में, अथवा स्वर्ग में अथवा पुनः देवताओं में भी कोई प्राणी ऐसा नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीनों गुणों से छुटा हुवा हो ॥ ४० ॥

हे परंतप, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के कर्म, स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा जुदा जुदा रचे गये हैं ॥ ४१ ॥

अन्तः करण की वासना का निरोध, इन्द्रियों का निग्रह, तप, अन्तर बाहर शुद्धि, सहन शीलता, और

सरलता भी, शास्त्रीय ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान और आस्तिकता (शास्त्रों में श्रद्धा विश्वास आदर) भी, स्वभाव से उत्पन्न हुए ब्राह्मण के कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शूर वीरता, तेज, धैर्य, चातुर्य, और युद्ध में भी न भागना, दान देना और प्रजा पालनादि युक्त प्रभुता का होना, यह क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषि, गोरक्षा और लेन देन वैश्य के स्वभाविक कर्म हैं (और) सेवा परायणता शूद्र का भी स्वभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

स्व स्व कर्म में, प्रेम से लगा हुवा पुरुष, सम्यक् लाभ रूप मोक्ष को प्राप्त होता है, स्वकर्म में निरन्तर रमण करता हुवा जिस प्रकार सफलता को प्राप्त होता है वह सुनो ॥ ४५ ॥

जिस परमात्मा से, प्राणियों की प्रवृति हुई है (संसार व्यवहार होता है) जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उस परमात्मा का, (उसकी आज्ञा रूप वेद से विहित वर्णाश्रम धर्मानुसार) स्वकर्म द्वारा, पूजन करके, मनुष्य, (पुरुषार्थ की सफलता रूप) सिद्धि को प्राप्त होता है (चित्त की शुद्धि द्वारा ज्ञान होकर ब्रह्म निष्ठ मुक्त हो जाता है)॥४६॥

अच्छे प्रकार से अनुष्ठान किये पर धर्म से, गुण रहित अपना धर्म श्रेष्ठ है, (ब्राह्मणादिक के ईश्वर द्वारा

रचित) स्वभाव से, नियत किये हुए कर्म को करता हुवा, पाप को नहीं प्राप्त होता है (क्योंकि सहज, प्रवाह पतित, विना अहंकार और फल की इच्छा के और बिना विशेष परिश्रम के, बिना अन्यों के द्वेष उपहास उत्तेजना वा प्रलोभ के, प्रारब्धानुसार ईश्वराज्ञा मान कर, वह कर्म कियो जाता है, इसलिये कर्ता पाप रहित ही होता है) स्वभाव के विपर्य्य से जो अधः पतन का भय अथवा पश्चाताप सो भी नहीं होता है) ॥ ४७ ॥

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन, स्वभाविक कर्म दोष सहित भी न त्यागना चाहिये, क्योंकि सब आरम्भ, दोष से ऐसे व्याप्त होते हैं, जैसे धूम से अग्नि ॥ ४८ ॥

सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धि वाला विजितान्तःकरण, स्पृहा (तृष्णा) से रहित मनुष्य, काम्य कर्मों के त्याग पूर्वक ब्रह्म निष्टा से, सब से उत्कृष्ट और निष्क्रिय आत्म स्वरूपावस्थान को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन, जिस प्रकार, सफल पुरुषार्थ वाला पुरुष, ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो ज्ञान की परमात्म संबंधी निरन्तर स्थिति है, वह संक्षेप से, मुझसे जान॥५०॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, धीरज से मन इन्द्रियों को निग्रह करके, शब्दादिक विषयों को त्याग कर और राग द्वेष को निवृत्त करके,॥ एकान्त सेवी, लघु आहार वाला,

वाणी शरीर और मनके निरोध वाला, सदा ध्यान योग परायण, वैराग्य का सम्यक् आश्रय लेकर, ॥ अहंकार, बल, पर तिरस्कार, काम क्रोध और अनावश्यक संग्रह को त्याग कर, ममता रहित शान्त हुवा (ऐसा मनुष्य) ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ब्रह्म को प्राप्त हुवा, प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ शान्त अन्तः करण वाला जन, न शोक करता है, न इच्छा करता है, सब प्राणियों में सम हुवा (निस्पक्ष हुवा अथवा एक परमात्मा से पूर्ण बुद्धिवाला हुवा) मेरी, (परमात्मज्ञान रूपी, सर्वोत्कृष्ट अभेद भावना रूपी) अनन्य भक्ति को पाता है ॥ ५४ ॥

जितना (देश काल वस्तु के अन्त से रहित) और जो (सच्चिदानन्द अद्वैत सर्व रूप) स्वरूप से मैं हूँ, (ऐसा वह अनन्य भक्त) मुझ को भक्ति से जानता है, उसके पीछे मुझे स्वरूप से जान कर तत्काल ही मुझ में, (अभिन्न होकर) प्रवेश करता है ॥ ५५ ॥

मेरे आश्रय होकर, सब कर्मों को सदा करता हुवा भी, मेरी कृपा से अविनाशी अटल पद को प्राप्त होता है ॥ चित्त से सब कर्मों को मुझ में समर्पण करके, मेरे परायण हुवा, ज्ञानयोग का आश्रय लेकर, निरन्तर मुझ परमात्मा में चित्त वाला हो ॥ मुझ (आत्म स्वरूप) में चित्त वाला हुवा, सर्व (अविद्या काम कर्मादि दुस्तर)

विघ्नों को, मेरी प्रसन्नता से तू तर जावेगा, और यदि तू अहंकार से न सुनेगा तो विनाश को प्राप्त हो जावेगा॥ यदि अहंकार का आश्रय लेकर, मैं नहीं लडूंगा, ऐसा मानता है यह तेरा निश्चय मिथ्या है, प्रकृति तुझे प्रेर कर अवश्य युद्ध में लगा देगी॥ ५६॥ ५७॥ ५८॥५६॥

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन, अपने स्वभाव जन्य कर्म से बंधा हुवा, जो अविवेक से तू करनेकी इच्छा नहीं करेगा, तो विवश होकर भी तू उसको करेगा॥ ६०॥

हे अर्जुन, शरीर रूपी यन्त्र में स्थित, सब प्राणियों को, अपनी माया से (आवागमन चक्र में) भ्रमाता हुवा, ईश्वर सब प्राणियों के हृदय देश में (उनका आत्मा होकर स्थित है॥ ६१॥

हे भारत, सर्व प्रकार से उस ही की शरण को प्राप्त हो, उसकी कृपा से, सदा रहने वाले, परम शान्ति रूप स्थान को तू प्राप्त होगा॥ ६२॥

इस प्रकार इस (विद्या मन्त्र धनादि) गुह्य से भी अत्यन्त गुह्य (पुत्र वा शिष्य भाव से रहित को न देने योग्य) ज्ञान को मैंने तुझ से कह दिया, इसको संपूर्णतया विचार कर, जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर॥ ६३॥

सब से अत्यन्त गुह्य मेरा परम बचन फिर सुन, तू मेरा अत्यन्त प्रिय है और दृढ मति है इसलिये तुझसे हित

की बात कहूंगा ॥ ६४ ॥

(सब वासुदेव रूप जानकर) तू मुझ में मन वाला हो (तेरे संपूर्ण मन का व्यवहार मुझ परमात्म संबंधी हो संसार संबंधी न हो,) मेरा भक्त हो (अन्य राजादिक प्रभुता वालों का भक्त न हो) मेरा पूजन करने वाला हो (देवता आदिकों की उपासना में न फँस) मुझे नमस्कार कर (धनी मानी मूढ जनों को नमस्कार न कर) तू मुझ को ही प्राप्त होगा मैं तुझ से सत्य प्रतज्ञा करता हूँ तू मेरा प्यारा है ॥ (सब मन का संकल्प विकल्पात्मक व्यापार, अन्यों की भक्ति पूजन नमस्कार बहुधा कामनाओं के वशवर्ती होकर ही करने पड़ते हैं, ईश्वर से इतर सब का अभाव समझनेवाले को, अथवा सब वासुदेव समझनेवाले के लिये, सब व्यापार का अभाव है,अथवा यत्किंचित देह निर्वाह मात्र व्यवहार भी, वासुदेव रूप ही है इसलिये उस को आत्मरति, आत्म क्रीड, आत्मतृप्त, आत्म मिथुन और आत्मानन्द होने से ब्रह्मस्वरूपता से इतर क्या प्राप्त होना शेष है अर्थात् कुछ भी नहीं, यह तात्पर्य्य है) ॥ ६५ ॥

(अत्यन्त असत् जान कर) सर्व धर्मों का परित्याग करके, मुझ एक की ही (अभिन्नता पूर्वक अद्वैत् भावना रूपी) शरण को प्राप्त हो, मैं तुझे सब भेद दर्शन रूपी पापों से छुड़ा दूँगा, शोक मत कर ॥ ६६ ॥

इस ज्ञान को, तुमने, तप रहित पुरुष को, अभक्त को कभी न कहना और न उसको कहना जो सुनने की इच्छा न रखता हो, और जो मुझ ईश्वर में दोष दर्शन करता हो उसे भी न कहना ॥ ६७ ॥

जो इस परम रहस्य रूप ज्ञान को, मेरे भक्तों में कहेगा, मेरी परम भक्ति करके, मुझको ही प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं है ॥ ६८ ॥

और न मनुष्यों में उससे अधिक मेरा अत्यन्त प्रिय करने वाला है, और न पृथवी में, उससे अधिक, दूसरा प्रिय, कोई मुझको होगा ॥ ६९ ॥

और जो कोई इस हमारे धर्म रूप संवाद को (ज्ञान वार्ता के कथन को) अर्थ से अध्ययन (वा नित्य पाठ) करेगा, उससे, मैं ईश्वर, ज्ञान यज्ञ द्वारा पूजित हूँगा, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ७० ॥

जो पुरुष श्रद्धावान और दोष दर्शन से रहित हो कर सुनेगा भी, वह भी (शरीर त्याग कर अथवा पापों से) मुक्त हुवा, पुण्य कर्म करने वाले पुरुषों के, स्वर्गादि शुभ लोकों को प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

हे पार्थ, क्या तूने एकाग्र चित्त से यह सुना है, हे धनंजय, क्या तेरा अज्ञान रूपी सम्यक् मोह नष्ट हुवा॥७२

अर्जुन ने कहाः-हे अच्युत, आपकी कृपा से, अविवेक

रूप मोह नष्ट हुवा और मुझे यथावत् आत्म स्वरूप की स्मृति (नित्य चिन्तन की) की प्राप्ति हुई, मैं (विपर्य्य रहित) स्थित हूँ, गत संदेह (अर्थात् संशय रहित) होकर (आपकी आज्ञा का) आपके वचन का पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

संजय ने कहा :—इस प्रकार मैंने, वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत (आश्चर्य रूप) और रोमाञ्चकारी संवाद को सुना ॥ मैंने व्यास भगवान की कृपा से, इस परम गुप्त रहस्य रूप योग को स्वयं साक्षात् कथन करते हुए, योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान से सुना ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

हे राजा धृतराष्ट्र, इस केशव अर्जुन के कल्याण-कारी अद्भुत संवाद को सम्यक् स्मरण करके, पुनः पुनः स्मरण करके, मैं पुनः पुनः हर्षित भी होता हूँ ॥ ७६ ॥

और हरि के उस अद्भुत रूप को सम्यक् स्मरण करके सम्यक् स्मरण करके, हे राजन् ! मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और मैं पुनः पुनः हर्षित भी होता हूँ ॥ ७७ ॥

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं (परमात्मा की आज्ञा वर्तमान है) जहां धनुषधारी पार्थ है (शूरबीर ईश्वर आज्ञा पालन करने वाला स्वधर्म और परमात्म ज्ञान का जिज्ञासु है),

वहां लक्ष्मी विभूति विजय और अटल नीति है, यह मेरा निश्चय है ॥ ७८ ॥

इति मोक्ष संन्यास योगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

इति श्रीकृष्णामृत रसायन नामक श्रीमद्भगवत गीता हिन्दी भाषानुवादः संपूर्ण ॥

श्री कृष्णार्पणमस्तु, शुभं भवतु ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अनुगीता का उपदेश ॥

महा भारत के युद्ध से कुछ काल पीछे एक समय अर्जुन के चित्त में यह विचार उत्पन्न हुवा कि जो ज्ञान, मैं ने महाभारत के युद्ध के समय श्री भगवान के मुखारविंद से सुना था उसकी तो अब स्मृति नहीं रही, क्योंकि ज्ञान के कथन का विस्तार उस समय बहुत था और सुनने के तत्काल पश्चात ही मैं युद्ध में प्रवृत्त हो गया, उपदेश को मनन पूर्वक दृढ़ करने का और उसके निदिध्यासन पूर्वक दृढ़ धारणा होने का, अवकाश ही नहीं मिला, इस लिये मोक्ष मार्ग का तो कार्य ही अधूरा रह गया, यह बड़ी हानि की बात हुई, श्री भगवान से फिर

जिज्ञासा पूर्वक उसी ज्ञान को पूछना चाहिये ॥ अब कार्य भी कोई नहीं है, श्रद्धा पूर्वक सुन कर हृदय में उपदेश को धारण करूँगा, और सम्यक् जित मन, जित इन्द्रिय होकर, उसके ही परायण होकर, नित्य निरन्तर अभ्यास करूँगा, यह अवकाश उत्तम है, यह मन में विचार कर अर्जुन ने श्री भगवान से प्रश्न किया ॥ उस प्रश्न के उत्तर में श्री महाराज कृष्णचन्द्र ने पुनः ज्ञान का उपदेश किया, जिसको श्रवण करके, मनन करके और ध्यान पूर्वक नित्य निरन्तर रहने वाली ब्रह्म निष्ठा को प्राप्त करके अर्जुन कृतार्थ हुवा ॥ यहाँ यह (१) शंका प्राप्त होती है कि श्रीभगवान के मुखारविन्द से साक्षात् श्रवण किया हुवा ज्ञान जब अर्जुन को विस्मृत हो गया तब इतर कलियुगी मन्द अधिकारियों का इसी काल के गुरु जनों से श्रवण किया हुवा ज्ञान, क्यों हृदय में ठहरेगा, इसलिये पुरुषार्थ को सर्वथा निष्फलता है, इस शंका का यह समाधान है:—

ईश्वर सब के हृदय में आत्मा होकर और अपने व्यापक स्वरूप से भी स्थित है, जीवों के पुण्य कर्मों के वश से, किसी को उत्तम मोक्ष फल देने के लिये वह वहीं, उस अधिकारी के हृदय में अपनी जिज्ञासा उत्पन्न करके, आप ही किसी दूसरे शरीर से, सद्गुरु रूप से उपदेश

करता है, इस लिये जो भी सद्गुरु है वह उस शिष्य के लिये ईश्वर रूप ही है, इसमें संशय करना उचित्त नहीं है और तब ही ज्ञान होता है अन्यथा यथार्थ ज्ञान ही नहीं हो सकता हैं। अधूरा सा अथवा संशयात्मक ज्ञान ही होगया, सो वह, शान्ति रूपी फल, नहीं दे सकेगा, इस ज्ञान न होने में साधक के ही अन्तः करण का दोष है, सो श्रद्धा सतसंग और भजन से दूर करना चाहिये॥ भूलने की यह बात है कि शीघ्रता में श्रवण किया हुवा उपदेश, बिना अन्तः करण की सम्यक् सूक्ष्मता और एकाग्रता संपादन किये हुए, कैसे टिक सकता है यह विचारने की बात हैं, यदि ऐसे उपदेश टिक सकता तो श्री भगवान को तत्परता और सम्यक् जितेन्द्रिय होकर श्रद्धा पूर्वक उपदेश सुनने के लिये अनुमति देने की, क्या आवश्यकता थी॥ सब ही व्यग्र चित्त कुछ न कुछ धर्म ज्ञान वैरागादिक के उपदेश किसी न किसी महात्मा सज्जन से सुनते ही हैं और पुस्तकों में भी पढते हैं, परन्तु उपदेश की आरूढता, कितने चित्तों में देखने को मिलती है, कहीं नहीं, इस लिये जन बहुधा मूढ रहते हैं॥ इस प्रसंग से, इसी प्रकार, मनको सावधान रखने के लिये श्री भगवान के उपदेश करने का यह तात्पर्य है, कि श्रवण के पीछे यथा संभव मनन निदिध्यासन पूर्वक

ब्रह्माकार वृत्ति का निरन्तर प्रवाह अवश्य करते रहना उचित है, अन्यथा ब्राह्मी स्थिति जो पुरुषार्थ की सफलता की कुंजी है, प्राप्त न होगी और मुमुक्षु वैसा का वैसा ही निर्धन योगभ्रष्ट होकर रह जावेगा॥ इसवास्ते पुरुषार्थकी सफलता के निमित्त प्रमाद को छोड कर आजीवन काल यावत् सामर्थ्य है ब्रह्मावस्थान परायण रहनेका यत्न करते रहना ही चाहिये तबही ज्ञान प्रतिष्ठित हो सकेगा अन्यथा नहीं होगा यह जान लेना॥(२) दूसरी एक शंका यह उदय होती है कि, श्री भगवान ने उत्तर में कहा कि मैं स्वयं उस ज्ञान को भूल गया हूँ, तुम को उस ज्ञान को स्मरण रखना उचित था, ऐसा कहने से आश्चर्य होता है कि जब श्री भगवान ही ज्ञान को भूल गये तो इतर मनुष्यों का क्या कहना है, इससे ज्ञान का फल ही क्या हुवा ? (३) फिर ईश्वर ज्ञान की नित्यता कही है, विस्मृत होने से ईश्वरता ही क्या रही, यह तीसरा संदेह होता है, इन दोनों पीछे की शंकाओं का यह समाधान है:—

श्री भगवान श्री मद्भगवद्गीता में कह चुके हैं कि "मैं अज अविनाशी आत्मा और प्राणियों का ईश्वर भी हूँ (इस लिये मेरे कोई कर्म और जन्म नहीं है) परन्तु अपनी माया को स्वाधीन करके अपनी माया से जन्मवान की न्याईं अवतार लेता हूँ॥ साधुजनों की रक्षा के लिये

और दुष्टों के विनाशार्थ तथा धर्म के सम्यक् स्थापन के वास्ते युग युग में अवतार धारण करता हूँ" ॥ इससे प्रसिद्ध है कि मनुष्य के आकार में, सब कार्य सिद्ध करते हुए भी, जो जीव स्वभाव से मनुष्य योनी पाकर मानसी भाव और त्रुटियाँ रहती हैं उन सब को भी तो अपने मायावी शरीर से प्रकट कर दिखाना, भगवान को आवश्यक था, अन्यथा माया से मोहित रहने वाले दुष्ट जनों को, कैसे मोह युक्त संतोष होता, कि यह तो साधारण मनुष्य नन्द सुत अथवा देवकी पुत्र हैं, इनको दण्ड देना वा इनको पराजित करना कौनसा कठिन कार्य है ॥ ऐसे दुःसाहस करने पर ही तो दुष्टों का संहार और साधु वर्ग के परित्राण का अवकाश हुवा ॥ इससे ज्ञात हुवा कि श्री भगवान का अपने कहे हुए ज्ञान के कथनका भूलजाना प्रदर्शन करना मनुष्य स्वभाव से कुछ आश्चर्यजनक नहीं था, क्योंकि एकही ज्ञान, अधिकारियों को समयानुसार, अनेक रीति से, और प्रसंगवश, अनेक प्रकार से, बोधन किया जाता है ॥ देश काल अवस्था वदल जाने से, उस उस समय के अनुसारी उपदेश का, स्मरण न रहना स्वभाविक है, न जाने उस समय धारा वाही प्रवाह से श्री भगवान के मुखारविन्द से क्या क्या अमृत वचन निकलगये थे ॥ दूसरे यह भी बात है कि अर्जुन

को विशेष सावधान रखने के लिये, इस निमित्त से, अनुशासन के योग्य वचन कहकर, समाधान युक्त रहकर श्रवण करनेकी आवश्यकता सूचित कराना, भगवान को इष्ट था, जिससे वह फिर भूल न जावे ॥ दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी बड़े पुण्य कर्मों के फल से श्री भगवान के मुखारविन्द से उपदेश लाभ करने का अवसर पाकर उसको भूल जाना चित्त की बड़ी अनुचित्त और हानिकारक प्रमत्त दशा है, उसको निवारण करके सावधान रहना उचित है, इस प्रकार भगवान की अर्जुन को शिक्षित करने की इच्छा हुई ॥ इससे ईश्वर के नित्य ज्ञान पर आक्षेप का भी समाधान होगया, क्योंकि उन्हों ने लीला विग्रह शरीर से उपदेश किया था, इस लिये वैसी ही मानुषी चित्तों की अवस्था दिखानी थी, वहाँ अपना नित्य ज्ञान दिखाने का प्रसंग नहीं था ॥ इस से यह प्रसिद्ध हुवा कि अर्जुन का पुनः प्रश्न करना भी अपने मानसी रस की तृप्ति के लिये आवश्यक था, और श्री भगवान का उसको सावधान करके पुनः उपदेश करना भी उचित्त था ॥ यह भी संभव हो सकता है कि अपने श्रवण किये हुए ज्ञान की दृढ़ परिपक्वता के लिये, और अपने परम प्रिय श्री भगवान के मुख से अमृत रूप बचनों के अधिक श्रवण की लालसा से, अर्जुन ने जान बूझ

कर ही प्रश्न किया हो, इस लिये शंका कुतर्क उठाना प्रेमी रसिक जनों के लिये सर्वथा अनुचित ही है ॥ इसी श्री भगवान के उपदेश का नाम अनुगीता है और यह भी महा भारत में प्रसिद्ध है ॥ इसी के चुने हुए श्लोकों का हम साधारण हिन्दी भाषा में अनुवाद करते हैं, सो यह रसिक जनों को अवश्य आनन्द प्रद होगा और श्री मद्भगवद्गीता के अन्त में, इस का होना आवश्यक समझ कर, लिखना उचित समझा गया, तहाँ अर्जुन का यह प्रश्न है:—

अर्जुन ने कहाः—हे केशव, सुहृद भाव से जो आप ने पूर्व मुझ को उपदेश किया, वह सब उपदेश, हे पुरुषों में नृसिंह भगवान, मुझ (रण व्यापार में) विक्षिप्त चित्त से, विस्मृत हो गया ॥ (इस लिये पुनः उपदेप कीजिये यह आशा है) ॥

श्री भगवान ने कहा :— विना विचारे (बे समझी से) जो तूने उस मेरे उपदेश को न समझ कर हृदय में सुरक्षित न रक्खा, सो मुझे बहुत अप्रिय लगा और वह उपदेश भी अब फिर मुझे याद न आवेगा ॥

वुद्धि से अर्थात् सद्ध विचार से, शरीर और मन के सब संकल्पों का परित्याग करके, (मनुष्य) धीरज से इस प्रकार निष्प्रपंच शान्ति को प्राप्त होता है जैसे इंधन

रहित अग्नि आप शान्त हो जाती है ॥

सर्व संस्कारों से विशेष निर्मुक्त होकर (अत्यन्त रहित होकर) अचल, नित्य अविनाशी और सनातन परंब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ (तात्पर्य यह है कि जब अद्वितीय परिपूर्ण एक सर्वात्मा अपना स्वरूप ही सब कुछ जैसे का तैसा निर्द्वैत समझ कर, अमनस्क भाव को प्राप्त होता है और निरन्तर ऐसी ही स्थिति के प्रयत्न से अन्य संस्कारों से विमुक्त हो जाता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त हुवा, ऐसे, विद्वान् कहा जाता है) ॥

आत्मा तो दृष्टि का विषय नहीं है तब कैसे आत्म दर्शन होता है, इस शंका का समाधान करते हैं किः—

जिस प्रकार पुरुष स्वप्न को देख कर कहता है कि यह है, (वस्तुतः उसका ऐसा कहना व्यर्थ है क्योंकि स्वप्न तो; बस द्रष्टा का ही स्वरूप, निद्रा दोष से ऐसा भिन्न होकर भान होता है, उससे भिन्न कहीं नहीं है) ऐसे रूप की न्याईं ही, समाहित हुवा साधु, अपने आत्मा को साक्षात्कार करता है (सब ब्रह्म है और मेरा ही स्वरूप है ऐसा जानना ही देखना है इदन्ता रूप से भिन्न देखना तो भ्रान्ति दर्शन ही है) ॥

बिना सूक्ष्म एकाग्र बुद्धि के, यानी वृत्ति व्याप्ति द्वारा स्व स्वरूप अनुभव मात्र एक अद्वितीय सत्ता, कैवल्य रूप,

जाने हुए बिना, केवल बुद्धि के भेद पूर्वक तर्क से भी, आत्मा नहीं जाना जाता, इस लिये कहते हैं:—

जब तक रथ का मार्ग है तब तक पुरुष गन्तव्य स्थान को रथ में बैठ कर जाता है और रथ का मार्ग आगे विद्यमान न रहने पर, रथ को छोड़ कर चलता है (इसी प्रकार शास्त्र और बुद्धि से विचार कर तब तक सम्यक् दर्शन के प्रति यत्न होता है जब तक प्रमाण युक्तियों और स्वानुभव से मुमुक्षु नामरूपात्मक द्वैत दृश्य का मूल अज्ञान सहित अत्यन्त अभाव नहीं समझ लेता है, पीछे इस गुरु शास्त्रादिक सामग्री का कुछ उपयोग नहीं है, विद्वान अपने स्वरूप आत्मा में ही कूटस्थ रूप से निर्मन हुवा स्थित रहता है और ब्रह्म रूप हुवा ब्रह्म ही जानता है अन्य कुछ नहीं, यह तात्पर्य्य है) ॥

समुद्र को नाव द्वारा तर कर, नाव को छोड कर, पैदल परले पार जाता है, इसी प्रकार जैसे कि रथ छोड़ कर पैदल चलने वाले का दृष्टान्त कथन कर चुके हैं ॥ अब दार्ष्टान्तिक कहते हैं:—इन्द्रिय समूह के सहित मन रथ हाँकने वाला भी हैं, बुद्धि सम्यक् निग्रह करने वाला वागडोर है, और नित्य महान ब्रह्म उस रथ का अधिष्ठान स्वामी है उसी की सत्ता से रथ है ॥ जीव पर्यन्त सर्वभूत और सर्व प्राणधारियों की गति रूप यह नित्य ब्रह्म मानों

एक महान बन के सदृश है और उसमें क्षेत्र का जानने वाला क्षेत्रज्ञ आत्मा विचर रहा है ॥

अब दूसरे प्रकार से उपदेश करते हैं:—

दो अक्षर रूप तो मृत्यु है और तीन अक्षर स्वरूप नित्य ब्रह्म है, "मम" (अर्थात् मेरा है) यह दो अक्षर रूप तो मृत्यु यानी अज्ञान का कार्य आवागमन रूप संसार है और "न मम" (अर्थात् मेरा कुछ नहीं है) यह तीन अक्षर रूप भाव सर्व निष्प्रपंच ब्रह्म है ॥

सर्व संस्कारों को एकत्र ब्रह्मभावापन्न करके, अन्तःकरण को आत्मा में ("अहं ब्रह्मैवेदं सर्वं" इस भाव से) सम्यक् निरुद्ध करके (यानी आत्मा में समा करके) वह विद्वान् उस शुभ ब्रह्म को अपरोक्षानुभव करता है जिस से फिर जन्म नहीं लेता है ॥ अब सुगम बोधार्थ कहते हैं कि:—

हे महाबाहो, मैं गुरु हूँ और मन मेरा शिष्य है ऐसे (शास्त्र विचारते समय तुम) जानों, तेरी प्रीति से मैंने यह गुह्य उपदेश, हे धनंजय, कथन किया ॥ इत्योम् ॥

इति श्री दुर्गाप्रसाद आत्मज सीताराम गुप्त रचित श्री अनुगीता प्रकाश हिन्दी भाषा संपूर्ण गतम् ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः॥

योगमाया का संदेश ॥

सुनों वीरवर, अभी अभी जो, रणचण्डी का हुवा निनाद।
मुझ से श्री जी का साक्षात्, हुवा है यह, अद्भुत संवाद ॥
कर्म सूत्रमें, गुथी हुई इक, पहन, असुर मुण्डों की माल।
रण चण्डी, खप्पर ले, कर में, चलती थी, अठलाती चाल ॥
श्री जी को, जब मैंने देखा, भय युत सविनय, किया नमन।
और कहा, हे अम्बे, कहिये, कैसे दिया, मातु, दर्शन? ॥
हाथ जोड़, नत मस्तक, पूछा, क्या उद्देश तुम्हारा है।
किस निमित्त विकाल भयंकर, ऐसा रूप पसारा है ॥
बोली वह, हैं वही असुर, जो असुर भाव, दृढ़ रखते हैं।
बनें आर्य, पर हैं अनार्य, हम, भक्षण उनका, करते हैं ॥
मैं प्रकृति दैवी हूँ माया, चुन चुन, सब खा जाऊँगी।
असुर रक्त की, हूं मैं प्यासी, अपनी प्यास, बुझाऊँगी ॥
युद्ध क्षेत्र में, कर्म भूमि में, भारत, जो भारत के वीर।
धर्म ज्ञान वैराग्य धारकर, सहते जो, असुरों के तीर ॥
निमित्तमात्र, अर्जुनवत्, जो नर, मुझ रणदेवी के, बलिदान।
होते हैं, उन पुत्रों को निज, भुज में ले, करती हूं मान ॥
वीरो, चलो, असुर दल मारो, मेरा यह, खप्पर भर दो।
अन्तर बाहर, सब सम जानों, हृदय तेजमई कर दो ॥

असुरों से, भू भार बढा है, उसको हलका, करने दो।
मैं अनन्त हूं, यही कृत्य है, मेरा खप्पर भरने दो॥
सत्य प्रतज्ञा, पान चबाकर, ईश चरण का, धरकर ध्यान।
अपने सब दुर्भाव नाश कर, अवश्यमेव, होगा कल्यान॥
वीर बनो, गंभीर, धीर वर, सज कर, केसरिया बाना।
धर्म युद्ध लो ठान, मनों में, हरि चरणों में मर जाना॥
एक बार, दृढ निश्चय धारो, पीछे, फिर न पाँव धरना।
विघ्नों से, डर कर, न बैठना, मरने तक प्रयत्न करना॥
सफल मनोर्थ, रहोगे जीते, तो, सुकृति, फल पावोगे।
धर्म सहित, ईश्वर चिन्तन में, मरो, स्वर्ग को जाओगे॥
हो निष्काम, धर्म मार्ग में, अन्तः करण शुद्ध होगा।
ज्ञानवान, यशवान मुक्त हो, शोक मोह, दो दूर भगा॥
कर्मवीर हो, कर्म करो, पर, मन होवे, हरि जू के पास।
सहज प्राण, हरि में रम जावें, जानो यही, वीर संन्यास॥
कर्म, अकर्म, ब्रह्म हो भासे, कहो कर्म, फिर रहें कहाँ?।
ब्रह्म ब्रह्म में आप व्याप्त है, मेटो झगड़ा जहाँ तहाँ॥
हरि से भिन्न, न हरि की माया; यूं लख हरि शरणागत हो।
अन्य त्याग, हरि ही को चितवो, माया तरो, मोक्ष गत हो॥
कहती कहती, हँसती हँसती, चलती चलती, मत वाली।
अन्तर्द्धान, एक आन में, कहाँ गई खप्पर वाली?॥

(सीताराम)

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

प्रार्थना ॥ १ ॥

हरि, चरणों में अपने लगाले मुझे ।
भव बन्धन से स्वामी छुडाले मुझे ॥ १
यह सब ओर फैली अविद्या, हटाले ।
बुरी संगत से मालिक बचाले मुझे ॥ २
कोई अन्याय दीनों पे होता न दीखे ।
दुःख दर्शन से ईश्वर छुडाले मुझे ॥ ३
निज धर्मों में तत्पर यह सारी प्रजा हो ।
ऐसी जनता का सेवक बनाले मुझे ॥ ४
ईश, दुष्टों के दुर्भाव सब दूर करदे ।
देश घाती के पाले न डाले मुझे ॥ ५
पर द्रोह स्वारथ की आदत छुडादे ।
हितैषी दयालू बनाले मुझे ॥ ६
सबही में प्रीतम की प्यारी झलक है ।
निज प्रीती के रस से छकाले मुझे ॥ ७
जो सीधी सी मेरी यह बिनती न माने ।
तो ईश्वर जगत से उठाले मुझे ॥ ८
सीताराम ईश्वर, तुम्हारी शरण है ।
सभी में तू समता सिखाले मुझे ॥ ९

ॐ

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

॥ प्रार्थना ॥ २ ॥

तुम्हें कृष्ण प्रीती निभानी पड़ेगी ।
हमें सब से चाहत हटानी पड़ेगी ॥ १ ॥
यह भोगों से प्रीती छुडानी पड़ेगी ।
बस इक तुम से ही लौ लगानी पड़ेगी ॥ २ ॥
तुम्हें योग विद्या सिखानी पड़ेगी ।
बतानी पड़ेगी लखानी पड़ेगी ॥ ३ ॥
मैं हृदय में सबके, प्रिय आत्मा हूँ ।
यह हृदय में अनुभव करानी पड़ेगी ॥ ४ ॥
जो उपदेश अर्जुन को करते थे मोहन ।
वह गीता हमें भी पढानी पड़ेगी ॥ ५ ॥
न कहने को विद्या रहे पुस्तकों में ।
वह व्यवहार में सब यह लानी पड़ेगी ॥ ६ ॥
मेरे प्राण के प्राण हो प्राण प्यारे ।
लगी दिल की मेरी बुझानी पड़ेगी ॥ ७ ॥
मैं मोहित हूँ तुम पर जो यह मैं कहूँगा ।
तो माया से चाहत हटानी पड़ेगी ॥ ८ ॥
जो दृष्टी दया की बताते हो मोहन ।
वह प्रत्यक्ष हम को दिखानी पड़ेगी ॥ ६ ॥

जुदा तुम से कुछ और कोई न दीखे ।
यह मुझको भी हालत बनानी पड़ेगी ॥१०॥
जुदा कौन है कृष्ण अरु कौन राधा ।
मैं सबहूं यह निश्चय जमानी पड़ेगी ॥११॥
सभी वासुदेव आत्मा एक पूरन ।
यही एक माला फिरानी पड़ेगी ॥ १२ ॥
जो तू है सो मैं हूँ वही और सब है ।
यहाँ पर ही दृष्टि टिकानी पड़ेगी ॥ १३ ॥
समझ को समझ से परे दूर करके ।
तुम्हें अपनी झाँकी दिखानी पड़ेगी ॥१४॥
तुम्हीं कृष्ण राधा तुम्हीं राम सीता ।
प्रभू भेद दृष्टि हटानी पड़ेगी ॥ १५ ॥

पुस्तक मिलने का ठिकाना

(१) श्रीमान् दुर्गाप्रसादजी का पुत्र सीताराम
पोस्ट कांधला जिला मुजफ्फरनगर (यू० पी०)

(२) भक्त मेदीराम सूरजभान
ऐबटाबाद हजारा (सूबा सरहदी पंजाब)